

दीक्षा

महामहोपाध्याय पद्मविभूषण

डॉ. पं. गोपीनाथ कविराज

दीक्षा

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

सम्पादक
श्री जगदीश्वर पाल

अनुवाद
विश्वनाथ मुखर्जी

अनुराग प्रकाशन, वाराणसी

DEEKSHĀ

[*Category* : Spiritual & Religious Literature]

by

M.M. Pt. Gopinath Kaviraj

ISBN : 978-81-89498-52-8

चतुर्थ संस्करण : 2014 ई०

[4th Edition : 2014]

मूल्य : एक सौ रुपये (Rs. 100.00)

Publisher | प्रकाशक

ANURAG PRAKASHAN | अनुराग प्रकाशन

Chowk, Varanasi - 221001 | चौक, वाराणसी-221 001

[U.P. INDIA] | [उत्तर प्रदेश, भारत]

Phone & Fax : (0542) 2421472

E-mail : anuragprakashan@gmail.com

Shop at : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

निवेदन

'परमार्थ प्रसंगे महामहोपाध्यायगोपीनाथ कविराज' पाँच खण्डों में प्रकाशन करने के पश्चात् विभिन्न जिज्ञासुओं ने अध्यात्म-मार्ग के दिग्दर्शन के लिए—विशेष रूप से दीक्षा एवं सद्गुरु की प्राप्ति के लिए बड़े आग्रह के साथ पत्र लिखे। कुछ लोग इस विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए आये थे। उनकी आन्तरिक इच्छा के परिप्रेक्ष्य में, परमाराध्य आचार्य देव की दीक्षा और सद्गुरु के बारे में, विभिन्न समय पर, विभिन्न पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संकलन करने का मैंने निश्चय किया। उसी संकल्प की फलश्रुति प्रस्तुत संकलन है। गंगाजल से गंगा-पूजा की तरह पूजनीय आचार्यदेव की जन्म शत-वार्षिकी के अवसर पर 'दीक्षा प्रसंगे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज' पुस्तक प्रणामांजलि तथा श्रद्धांजलि के रूप में निवेदित है।

निम्नलिखित पुस्तकों तथा पत्रिकाओं से इस पुस्तक के विषय का चयन किया गया है।

१. 'परमार्थ प्रसंगे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज', २. 'स्वसंवेदन', ३. 'विजिज्ञासा', ४. 'तांत्रिक साधनाओं सिद्धान्त' एवं ५. 'आनन्दवार्ता'।

प्रथम स्तर के लेखों का संकलन करते समय कुछ प्रासंगिक लेख हमारी दृष्टि में नहीं आये थे, क्योंकि उक्त पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ हमारे पास नहीं थीं। इसी कारण उन अंशों को परिशिष्ट के रूप में पुस्तक के अन्त में प्रकाशित किया गया है। इस अनिच्छाकृत त्रुटि के लिए पाठक-समाज से मैं क्षमा चाहता हूँ।

सकृतज्ञ चित्त से स्मरण करता हूँ अध्यापक विश्वनाथ वंद्योपाध्याय, डॉ० मलयकुमार घोष, डॉ० अनिमेष बोस एवं श्री देवव्रत चक्रवर्ती की अकुण्ठ सहायता की बात। इन लोगों की सहायता न पाने पर इस संकलन का प्रकाशन सम्भव नहीं होता। मेरे आध्यात्मिक मार्ग के अग्रज पूजनीय डॉ० गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय महाशय ने विषयवस्तु चयन से लेकर प्रूफ देखने तक सर्वस्तर में सहायता की है और प्रेरणा देते रहे हैं। इसके लिए उनके निकट मेरा ऋण अपरिशोध्य है।

कागज की महँगाई के कारण तथा छपाई खर्च में अस्वाभाविक वृद्धि के कारण पुस्तकों का प्रकाशन असम्भव हो गया है। इस विषय की पुस्तकों के पाठक भी बहुत सीमित हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—चार प्रकार के भक्त, अर्थात् आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी उन्हें चाहते हैं। इन चार प्रकार के भक्तों

में से केवल जिज्ञासुओं के लिए यह संकलन है। हृदय में अधिष्ठित रहते हुए श्रीगुरु ने इस संकलन को प्रकाशित करने के लिए प्रेरणा दी है।

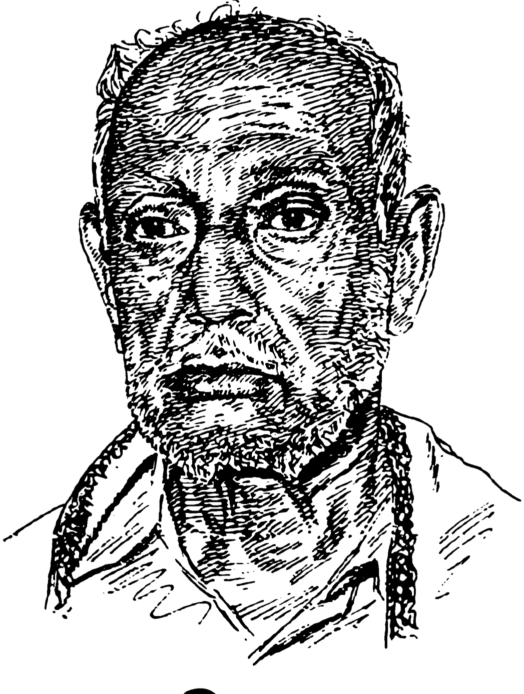
पूज्य कविराजजी का सारा जीवन वाराणसी में बीता। उनके हिन्दीभाषी शिष्य, प्रशंसक और भक्त बहुत बड़ी संख्या में हैं। उनके लिए 'दीक्षा' का हिन्दी अनुवाद मेरे अनुरोध पर अनुराग प्रकाशन के संचालक श्री अनुरागकुमार मोदी ने प्रकाशित करना स्वीकार किया। श्री मोदी कविराजजी के अनन्य भक्त हैं, उन्होंने कविराजजी की अनेक रचनाएँ हिन्दी में प्रकाशित की हैं। उसी क्रम में 'दीक्षा' हिन्दी पाठकों तक पहुँचाते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।

आशा है, परमकारुणिक श्रीगुरुप्रसाद से अध्यात्म-जिज्ञासु तथा अध्यात्म-मार्ग के पथिक, इस ज्ञानगंगा में स्नानकर सत्यपथ का संधान प्राप्त करेंगे।

अन्त में प्रार्थना करता हूँ कि श्रीगुरु का आशीर्वाद सभी पर वर्षित हो एवं उनकी कृपा से सभी सत्यपथ का निर्देश प्राप्त करें।

दीपावली
२५ अक्तूबर, १९९२ ई० जगदीश्वर पाल

अनुक्रम



दीक्षा

दीक्षा

दीक्षा के सम्बन्ध में शास्त्रों का निर्देश यह है कि आध्यात्मिक जीवन-पथ पर उन्नति करने के लिए दीक्षा ग्रहण करना साधारणत: आवश्यक है। वास्तव में जीव शिव से अभिन्न है। कारण स्वयं भगवान् लीला करने के लिए जीव बनकर मायिक जगत् में प्रकट हुए हैं। और जिस मत से जीव नित्य और भगवत्स्वरूप का ही अंशस्वरूप है, उस मत से भी अनादिकाल से इस मायिक-जगत् में जीव संसार-भ्रमण में व्यापृत है। इसीलिए आचार्यों ने जीव को अनादि बहिर्मुख के रूप में वर्णन किया है। दोनों ही मतों से जीव के नित्यस्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान गुरु से प्राप्त हो जाता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा गुरु शिष्य को यह अपरोक्ष ज्ञानदान करते हैं, उसी का नाम है—दीक्षा। कुलार्णव तंत्र में है—"दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। तस्मात् दीक्षेति सा प्रोक्ता ज्ञानिभि: तंत्रवेदिभि:" अर्थात् विमल ज्ञान प्राप्ति और कर्म-वासना का क्षय, जब तक ये दोनों सम्पन्न नहीं होंगे तब तक दीक्षा की वास्तविक सार्थकता सिद्ध नहीं होगी। किसी-किसी तंत्र में स्पष्ट वर्णन है कि पापक्षय और शिवत्त्व-योजन, ये दोनों व्यापार ही दीक्षा के लक्षण हैं। अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा पाप का क्षय होता है एवं शिवत्त्व-लाभ होता है, वही वास्तविक दिव्यविज्ञान है। कैवल्य-मुक्ति दीक्षा का फल नहीं है। कारण दीक्षा के व्यतिरेक से आत्मा और अनात्मा का विवेकज्ञान उत्पन्न होते ही आत्मा कैवल्य-मुक्ति प्राप्त कर सकती है। किन्तु उससे परमात्मा के साथ आत्मा की योगस्थापना नहीं होती। फलत: शिवस्वरूप जीवात्मा के लिए इस प्रकार का कैवल्य परम पुरुषार्थ के रूप में विवेचिंत नहीं हो सकता। शास्त्र का सिद्धान्त यह है—जीव दीक्षा के अलावा अन्य किसी उपाय से पौरुष-अज्ञान से मुक्त नहीं हो सकता एवं यह सत्य है कि पौरुष-अज्ञान बिना निवृत्त हुए शिवरूपी जीव की शिवत्व प्रतिष्ठा असम्भव है। पौरुष-अज्ञान निवृत्त होने पर भी जब तक जीव बौद्धिक अज्ञान से निवृत्त नहीं होगा तब तक दीक्षा से प्राप्त अपने शिवत्व की उपलब्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए साधना के द्वारा बौद्धिक ज्ञान उत्पन्न करके बौद्धिक अज्ञान को निवृत्त करना पड़ता है। जब गुरु कृपा प्राप्त निजका शिवस्वरूप अपने सामने प्रकट होता है तब जीव अपने को शिवरूप में अनुभव करता है और जीवन्मुक्ति का रसास्वादन करता है। प्रारब्ध के भोग के बाद देहत्याग के समय पौरुषज्ञान उदय होता है। तब वास्तविक शिवरूप में स्थिति होती है। यह दीक्षा व्यापार आत्मा के निज के दिव्यज्ञान उन्मेष के द्वार-स्वरूप है।

षट्चक्र भेद का जो फल है, सद्गुरु से प्राप्त दीक्षा का भी वही फल होता है अर्थात् ज्ञान-नेत्र का उन्मीलन। षट्चक्र प्रक्रिया में अपने को, परिश्रम करते हुए कुण्डलिनी जगाकर चक्र के बाद चक्र भेद करना चाहिए। किन्तु सद्गुरु प्रदत्त दीक्षा के मामले में गुरुकृपा से ही जीव का आवरण उन्मुक्त हो जाता है। परन्तु चित्त निर्मल न होने तक वह इस निरावरण सत्ता का अनुभव नहीं कर पाता। इसीलिए योगादि साधना आवश्यक है।

गुरु और सद्गुरु

गुरु और सद्गुरु एक ही वस्तु है। कारण असद्गुरु नामक कोई वस्तु नहीं है। पर समझाने की सुविधा के लिए गुरु से सद्गुरु शब्द का वैलक्षण्य दिखाया जाता है। जिनकी कृपा से पूर्ण सत्य का रूप प्रत्यक्ष होता है—जिसके प्रत्यक्ष होने के बाद अन्य कोई आवरण नहीं रहता—वे ही सद्गुरु हैं। जो आवरण को आंशिक निवृत्ति में सहायक होते हैं, उन्हें गुरु कहा जाता है। जो आवरण को आंशिक रूप में भी निवृत्त नहीं कर पाते, उन्हें गुरु नहीं कहा जा सकता। तांत्रिक प्रक्रिया में भी दीक्षा के व्यापार में जो अनुष्ठाता हैं वे ही गुरु हैं। प्रकृत प्रस्ताव में गुरु एकमात्र भगवान् हैं, दूसरा कोई नहीं। किन्तु जीव उन्हें साक्षात् रूप में पकड़ नहीं पाता, इसीलिए वे योग्य आचार्यों के माध्यम से शिष्यों के उद्धार के लिए आत्मप्रकाश करते हैं। आचार्य को भी इसीलिए गुरु कहा जाता है। दुर्गा की प्रतिमा में जैसे महाशक्ति जगदम्बा का अधिष्ठान होने के कारण उस प्रतिमा को 'दुर्गा' कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस देह का आश्रय लेकर नित्य गुरुशक्ति कार्य करती है उस देह को भी गुरु कहकर वर्णन किया जाता है। यही आचार्य की देह है। आचार्य के साथ परमेश्वर का साक्षात् या परम्परागत योग स्थापित न होने पर आचार्य भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में गुरुकार्य करने में समर्थ नहीं हो सकते। आचार्य जीवोद्धार के मामले में निमित्त मात्र हैं। वास्तव में गुरुरूपी भगवान् ही यथार्थ उद्धारकर्ता हैं। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि इस तरह निमित्त का आश्रय न लेकर साक्षात् रूप में क्या भगवान् अनुग्रह नहीं कर सकते? इसका उत्तर है—जरूर कर सकते हैं। पर साधारण तौर पर वे ऐसा नहीं करते। उनका अनुग्रह वितरण दो प्रकार से होता है—एक को साधिष्ठान अनुग्रह और दूसरे को निराधिष्ठान अनुग्रह कहा जाता है। भगवान् स्वरूपतः प्रकृति, माया या महामाया के अतीत हैं। अतएव उनके स्वरूप से अनुग्रहप्राप्ति सभी के भाग्य में नहीं होती। जो जीव प्राकृत या मायिक देह में आबद्ध हैं, वे भगवत् स्वरूप से निर्गत अनुग्रह-शक्ति को धारण नहीं कर सकते। जो जीव अपने विवेक-ज्ञान के प्रभाव के कारण प्रकृति तथा माया से पृथक् हो गये हैं, उस वक्त जिनका जीवत्व या पशुत्व, दिव्य ज्ञान न पाने के कारण, अभी

तक निवृत्त नहीं हो सके हैं, उन सभी विदेह कैवल्य प्राप्त आत्मा के भीतर जिनके मल परिपक्व हुए हैं, उनके मलपाक के तारतम्य के अनुसार नवीन सृष्टि के प्राक्क्षण में भगवान् स्वयं अनुग्रह करते हैं अर्थात् दीक्षा-दान देते हैं। यही है निरधिष्ठान दीक्षा-दान का उदाहरण। इस स्थान पर आचार्य की आवश्यकता नहीं होती। कारण यह सृष्टिपूर्व की अवस्था की बात है। सृष्टि के अन्तर्गत जीव साधारणतया आचार्य से ही दिव्यज्ञान प्राप्त करता है। गोकि स्वातंत्र्यमय परमेश्वर के लिए सभी समय सब कुछ सम्भव है। हमलोग साधारण तौर पर जिस आचार्य गुरु की बात कहते हैं, उनकी देह मनुष्यस्तर के अन्तर्गत है। किन्तु यह याद रखना होगा कि सिद्ध और दिव्य स्तर में भी गुरुदेह रह सकती है एवं वर्तमान युग में भी अनेक लोग इस प्रकार के गुरुओं से दीक्षा प्राप्त करते हैं।

गुरु खण्ड होने पर भी यदि उनका परमतत्त्व से साक्षात्कार नहीं हुआ है तो उन्हें सद्गुरु नहीं कहा जा सकता। किन्तु खण्ड गुरु के प्रदत्त ज्ञान में पूर्णता के अभाववश एक क्रमिक भाव या तारतम्य विद्यमान रहता है। तदनुसार यह कहा जाता है कि गुरु स्वयं जिस स्तर में रहते हैं, शिष्य को दीक्षा के द्वारा वहाँ तक पहुँचा सकते हैं। गुरु का ज्ञान अगर खण्ड न हुआ तो यह शंका उत्पन्न नहीं हो सकती।

दीक्षा की प्रणाली

शास्त्र के अनुसार दीक्षा तथा शक्तिपात में साधारणतः कुछ-कुछ भेद का प्रदर्शन होता है। कारण शक्तिपात होता है साक्षात् परमेश्वर से—कारण उनके अलावा अनुग्रह करने की योग्यता और किसी में नहीं है। सापेक्ष अनुग्रह निम्न स्तर का भी हो सकता है। किन्तु परम अनुग्रह करने की योग्यता एकमात्र भगवान् में है। परम अनुग्रह से शिवत्व प्राप्ति होती है। खण्ड अनुग्रह से नाना प्रकार की उच्च अवस्थाएँ प्राप्त हो सकती हैं। जिस जीव में शक्तिपात हुआ है, एकमात्र वही जीव दीक्षा प्राप्त करने के लिए उपयुक्त है। आचार्य गुरु अगर ज्ञानी हैं तो वे दृष्टिपात करते ही समझ जाते हैं कि किसी में शक्तिपात हुआ है या नहीं। जिसमें शक्तिपात नहीं हुआ है, ऐसे जीव को ज्ञानीगुरु कभी भी दीक्षा देने के लिए अग्रसर नहीं होंगे। दीक्षा क्रिया-शक्ति का कार्य है। मूल में यह परिपूर्ण ज्ञान और क्रिया का अभिन्नतामय चिच्छक्ति का व्यापार है। सृष्टि के पूर्व विदेह आत्मा को भगवान् जो स्वयं दीक्षा देते हैं, वहाँ ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में पार्थक्य नहीं रहता, जबकि आधार-भेद के अनुसार संचारित शक्ति की मात्रा का तारतम्य रहता है, सृष्टि के अभ्यन्तर में देह विशिष्ट जीव पर अनुग्रह करने के लिए क्रिया-शक्ति के व्यापार का अवलम्बन आचार्य को लेना पड़ता है इसलिए शक्तिपात का जो मूल

व्यापार है वह केवल भगवत्-सापेक्ष रहा है। शक्तिपात का तात्पर्य यह है कि जीवविशेष को उठा लेने की भगवान् की इच्छा हुई है अर्थात् जीवविशेष पर भगवान् की करुणा-दृष्टि है। भगवान् की इस करुणा-दृष्टि की ओर लक्ष्य करते हुए आचार्य दीक्षा-दान के लिए अग्रसर होते हैं। दीक्षा-दान के फलस्वरूप ज्ञान और क्रिया दोनों ही शक्ति का संचार होता है। क्रियाशक्ति की मात्रा आंशिक रहती है। आधार के अपेक्षित बल की जानकारी प्राप्त कर संचारित क्रियाशक्ति का तारतम्य निरूपण करना चाहिए। अर्थात् दीक्षा के साथ-साथ प्राय: पूर्ण रूप से ज्ञान का अधिगम होने पर भी क्रियाशक्ति न्यून भले ही हो, उस ज्ञान के साथ संसृष्ट ऐश्वर्य का तारतम्य बैठ जाता है। जब ज्ञान और क्रिया दोनों पूर्ण होते हैं तब एकमात्र शिवत्व की अवस्था अभिव्यक्त होती है, उसके पूर्व नहीं।

दीक्षा व्यापार मूल में एक ही है, किन्तु प्रणाली या प्रक्रिया भेद से विभिन्न प्रकार के हैं। मंत्र दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, दृष्टि दीक्षा, उपदेश दीक्षा आदि ये सब दीक्षा के प्रणालीगत भेद हैं। शास्त्र के अनुसार दीक्षा दो प्रकार की है—बाह्य दीक्षा और आन्तर दीक्षा। बाह्य दीक्षा का नाम क्रिया दीक्षा है और आन्तरं दीक्षा का नाम है वेध दीक्षा। दीक्षा-प्रसंग में पंचभूतों की आवश्यकता होती है। पहले जो बाह्य दीक्षा के बारे में बताया गया, उसे पृथ्वी और पानी के उपकरण स्थल में समझना चाहिए। किन्तु भीतरवाली दीक्षा में यह उपरण नहीं होता। इसके बदले तेजं, वायु, आकाश और मन की आवश्यकता होती है। तेज-संचार के द्वारा उक्त दीक्षा सम्पन्न होती है। उसका नाम है—चाक्षुषी दीक्षा। इसी का नामान्तर है दृष्टि दीक्षा। कारण गुरु की करुणापूर्ण दृष्टि से निर्गत तेजोविशेष के द्वारा यह दीक्षा सम्पन्न होती है। इसी प्रकार वायु द्वारा जो दीक्षा-कार्य निष्पन्न होता है, उसका नाम है स्पर्श दीक्षा। स्पर्श वायु का ही धर्म है। आकाश का धर्म है—शब्द। अतएव आकाश के द्वारा जो शब्द निष्पन्न होता है, उससे होती है शाब्दिक दीक्षा। मंत्र दीक्षा इसी के अन्तर्गत है। मन के द्वारा दीक्षा-कार्य सम्पन्न होने पर उसे ध्यान दीक्षा कहा है। चाक्षुषी दीक्षा से स्पर्श दीक्षा सूक्ष्म होती है। स्पर्श दीक्षा से शब्द दीक्षा सूक्ष्म होती है। शब्द दीक्षा से मानसिक दीक्षा सूक्ष्म होती है ये सब तेज और शक्ति जड़-शक्ति के अन्तर्गत गिने जाते हैं। चिच्छक्ति ही मुख्य शक्ति है। दीक्षा वास्तव में उसी की क्रिया है।

क्रियादीक्षा में होम आदि बाह्य क्रियाओं की आवश्यकता होती है, किन्तु सूक्ष्मदीक्षा में उसकी आवश्यकता नहीं होती। चाक्षुषी दीक्षा गुरु कें द्वारा शिष्य के प्रति दृष्टिनिक्षेप से ही प्रकट हो जाती है। मछलियाँ जिस प्रकार अण्डों की ओर दृष्टिपात कर उन्हें प्रस्फुटित कर देती हैं और उनमें प्रकट सन्तानों को दृष्टि के द्वारा पोषण करती हैं, ठीक इसी प्रकार गुरु भी करते हैं। कुलार्णव में है—"स्वापत्यानि

यथा मत्स्योह्य भीक्षणेनैव पोषयेत्। दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरी।'' स्पर्श दीक्षा में गुरु अपने हाथ से शिष्य के देह के अंशविशेष को स्पर्श करते हुए उसका संसार से उद्धार करते हैं। इस दीक्षा का दृष्टान्त-स्थल पक्षी है। चिड़िया अपने पंखों के द्वारा अण्डे को सेंकती हुई उसमें से बच्चे को बाहर निकालती है एवं स्पर्श के द्वारा उसका पोषण करती है। जिसे मानसी-दीक्षा कहा गया है, वही वेध-दीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर गुरु केवल ध्यान का सहारा लेकर दीक्षा-दान करते हैं। कूर्म या मादा कछुआ जिस प्रकार स्वयं पानी में रहते हुए तट-स्थित मिट्टी के भीतर रखे अपने अण्डों को केवल मानसिक चिन्तन द्वारा प्रस्फुटित करती है, यह भी अनेक अंशों में उसी तरह का है। योगवाशिष्ठ में है—'दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके। जनयेत् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।' अर्थात् जो दृष्टि के द्वारा अथवा शब्द के द्वारा कृपापूर्वक शिष्य की देह में शिवावेश उत्पादन करने में समर्थ होते हैं, वे ही वास्तविक गुरु हैं। इस स्थूल का मूल है—कृपा। इसके बाद दर्शन, स्पर्श और शब्द ये तीनों कृपा के प्रयोगभेद मात्र हैं। शिवपुराण में है—''गुरोः आलोकमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि। सद्य संज्ञा भवेत् जन्तोः पाशोपक्षयकारिणी।'' यहाँ भी पूर्ववत् तीनों प्रकार के वर्णन हैं।

दीक्षा-दान का समय

अनेक लोगों का विचार है कि जो लोग आध्यात्मिक मार्ग में साधन कर रहे हैं, वे दूसरों को दीक्षा देकर सहायता कर सकते हैं। किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। दीक्षा पाने पर दीक्षा दी नहीं जा सकती। स्वयं दीक्षा न पाने से तो बात ही अलग है, दीक्षा पाने के बाद जब तक सिद्धि-लाभ न हो तब तक अर्थात् लक्ष्य स्थान तक बिना पहुँचे, दूसरों को दीक्षा देने की योग्यता उत्पन्न नहीं होती। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि सिद्धि प्राप्त कर लेने पर भी दीक्षा देने का अधिकार नियमित रूप से हो जाता है—यह भी नहीं कहा जा सकता। शक्ति-संचार करने का एक विशिष्ट अधिकार है। शक्ति-लाभ बिना किये ही वह होता नहीं, किन्तु लाभ करने के बाद भी जब तक शक्ति को नियंत्रित नहीं किया जायगा तब तक उसका संचार नहीं किया जा सकता। जिन लोगों ने भगवान् को प्राप्त करने का मार्ग ग्रहण किया है, उनके लिए भी भगवत्-प्राप्ति के पूर्व शक्ति का अपचय करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि इससे दूसरों की भगवत्-प्राप्तिरूपी उपकार साधना तो होती ही नहीं, बल्कि अपनी भगवत्-प्राप्ति सिद्धिलाभ में बाधा उत्पन्न होती है। भगवत्-प्राप्ति के पूर्व दीक्षा देने पर अपने उन्नति-मार्ग में सामूहिक विघ्न आते हैं। भगवत्-प्राप्ति हो जाने पर उनके निर्देश के अनुसार अथवा द्वारा समाविष्ट होकर दीक्षा देना अलग बात है। इससे अपना कोई नुकसान नहीं होता जबकि दूसरों का कल्याण होता है।

गुरु और जगद्‌गुरु

जो गुरु-पद पर आसीन हैं, वे अगर जगद्‌गुरु के साथ अपनी अभिन्नता अनुभव करें तो उस गुरुदेह के माध्यम से जगद्‌गुरु क्रिया करते हैं। किन्तु जगद्‌गुरु के साथ तादात्म्यबोध न रहने पर वास्तविक गुरु बना नहीं जा सकता। फिर भी अगर कोई गुरु-कार्य करता रहता है एवं उन पर शिष्यगण सम्पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं तो शिष्यों का उन्नति-मार्ग एक प्रकार से अवरुद्ध हो जाता है। क्योंकि जब स्वयं गुरु ही अग्रसर नहीं होंगे तब उनके उनके आश्रित शिष्य का अग्रसर होना कैसे सम्भव होगा? यदि किसी विशेष कारण से गुरु कुछ दिनों तक गतिहीन स्तब्ध अवस्था में रह जायँ तो शिष्य को भी इसी अवस्था में रहना पड़ेगा। शिष्य गुरु का अतिक्रम करके अग्रसर नहीं हो सकता, किन्तु शिष्य अगर गुरु को जगद्‌गुरु के रूप में विश्वास करता हो तो उसके लिए उन्नति का पथ अवरुद्ध नहीं हो सकता। अनेक स्थानों में गुरु के पूर्व ही शिष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इसीलिए शास्त्रों में सर्वत्र गुरु को भगवान् के रूप में विश्वास करने की व्यवस्था कर दी गयी है। गुरु अपनी साधना के बल से भगवत्ता-लाभ न कर सकें तो भी शिष्य अपने विश्वास के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

गुरु की आवश्यकता

कोई-कोई कहते हैं—गुरुकरण अनावश्यक है, केवल अनावश्यक ही नहीं, सम्यक् ज्ञान के उदय-पथ के लिए प्रतिबंधक है। गुरु-शिष्य भाव कल्पित है, इसलिए किसी को भी गुरु समझकर धारणा बना लेना, उसके निकट आत्मसमर्पण करना, आत्मा के स्वभावसिद्ध स्वातंत्र्य-लाभ के प्रतिकूल है। मूल में यही अखण्ड सत्य विद्यमान है, अतएव गुरु-शिष्य भाव उसी एक सत्य पर आरोपित है—इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस कल्पित भाव की कोई सार्थकता नहीं है। वास्तव में जो लोग यह कहते हैं कि यह सम्बन्ध कल्पित एवं अनावश्यक है, वे भी एक हिसाब से सत्य पर आधारित उपदेश दे रहे हैं, इस कारण उपदेष्टा के हिसाब से गुरुपदवाच्य है। जिनसे वाक्य के द्वारा, इंगित के द्वारा, व्यवहार के द्वारा, अथवा तत्प्रेरित शक्ति की सहायता से ज्ञान के आविर्भाव में सहायता मिलती है, एक हिसाब से उन्हें भी गुरु कहा जा सकता है। अगर उन्हें गुरु न भी कहा जाय तो वास्तव में उनका गुरुत्व खण्डित नहीं होता, क्योंकि उपदेष्टा और उपदेश्यभाव विद्यमान है। संशय निवृत्ति के बाद गुरु-शिष्य का भाव नहीं रहता, रहने का प्रयोजन भी नहीं रहता। मगर जब तक संशय विद्यमान रहता है तब तक समाधान के लिए गुरु भी रहते हैं। कल्पना राज्य में शिष्य भी कल्पित, इसी प्रकार संशय या प्रश्न भी कल्पित और संशय का समाधान रूप निश्चयात्मक

ज्ञान भी कल्पित होते हैं। पूर्ण सत्य एक या अद्वैत है जो स्वतः स्फुरित होता है। वहाँ गुरु-शिष्य नहीं है अथवा रहने पर वह स्वयं ही गुरु है और स्वयं ही शिष्य है, दूसरा कोई नहीं होता। गोकि यह सत्य है कि बाहर किसी से उपदेश न पाने पर भी व्यक्तिविशेष के लिए अन्तर्दृष्टि और आभ्यन्तरीण उद्यम से ग्रंथिभेद सम्भव होता है। आन्तर ग्रंथिभेद हो जाने पर सभी प्रकार का संशय-भंजन अपने आप हो जाता है। किन्तु विचारपूर्वक गौर करने से यह समझ में आता है कि संशय के अवस्थिति-काल में गुरुसत्ता खण्डित नहीं हो रही है। क्योंकि बाह्य गुरु की तरह आन्तर गुरु भी हैं। अन्तरात्मा या अन्तर्यामी प्रत्येक हृदय में अधिष्ठित रहते हुए केवल साक्षी या द्रष्टा के रूप में जीव के कर्म और भोग का दर्शन करते हैं, ऐसी बात नहीं। उसके लिए नियामक रूप में सत्य मार्ग का संचालन भी करते हैं। यह भी गुरु का कार्य है। अतएव बाह्य गुरु (मनुष्य हो, सिद्ध हो या दिव्य हो) के न रहने पर भी आंतर गुरु रहते हैं और गुरु के कृत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यह कब? जब तक संशय है तब तक। संशय के निवृत्त हो जाने के बाद फिर आंतर गुरु के लिए कोई काम नहीं रहता। क्योंकि तब आत्मा अपने में स्वयं विश्रांत हो जाता है। उस वक्त आत्मा स्वेच्छा बिहारी हो जाता है। उसमें न संशय है और न अज्ञान। उसकी स्वाधीनता के मार्ग में कुछ भी प्रतिबंधक नहीं है। उस वक्त वह अपना नित्यमुक्त स्वरूप प्राप्त कर शिवरूप में विराजता है। अतएव गुरु की आवश्यकता नहीं है कहकर व्याख्या करने पर प्रकाशन्तर से गुरु की प्रयोजनीयता सिद्ध होती है।

किन्तु ऐसी स्थिति भी है जहाँ प्रारम्भ से ही भीतर संशय नहीं है। ऐसे क्षेत्र में बाह्य गुरु तो नहीं हैं, आन्तर गुरु का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यह ठीक उसी स्थान पर सम्भव है जहाँ वही पूर्णसत्ता, अनवच्छिन्न स्वयंसिद्ध सत्ता, ज्ञान के साथ नरदेह धारण करके प्रकट होती है। किन्तु यह साधारण जागतिक जीव की बात नहीं है।

शिष्य की गति कहाँ तक

सत्य के दो क्षेत्र हैं—एक भावमय और सीमाबद्ध, दूसरा भावातीत और सभी प्रकार की सीमाओं से मुक्त। पिता-पुत्र भाव, भाई-भाई भाव, मैं-तुम भाव आदि की भाँति गुरु-शिष्य भाव भी भावों के अन्तर्गत है। अनन्त प्रकार के भाव हैं, किन्तु भावों की सीमा रेखा पार कर लेने पर वहाँ किसी भाव का भी स्पर्श नहीं रहता। शिष्य और गुरु दोनों ही सापेक्ष हैं, गुरुभाव शिष्यभाव के अधीन है और शिष्यभाव गुरुभाव के अधीन है। गुरु ज्ञान के उपदेष्टा हैं, शिष्य उस उपदिष्ट ज्ञान का ग्रहीता है। यदि गुरु का उपदेश भावमूलक हुआ तो यह सम्भव होता है, जब

गुरु-शिष्य भाव अपनी स्मृति में रखकर शिष्य की कल्याण-कामना में, गुरु अपने भाव से शिष्य को उपदेश देते हैं। एक हिसाब से देखने पर इस उपदेश के मूल में गुरु का अहंभाव मौजूद है। अतएव इस उपदेश के मूल में शिष्य की ऊर्ध्वगति (यदि कोई प्रतिबन्ध न रहे) उतनी दूर तक सम्भव है जितनी दूर जाने पर शिष्य गुरु के स्तर तक पहुँच सके। अतएव शिष्य की यह प्राप्ति या सिद्धि वस्तुतः आपेक्षिक है। क्योंकि गुरु का समत्व लाभ ही उसकी साधना की परिसमाप्ति है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यह उसका परमलक्ष्य नहीं है, कारण परमलक्ष्य कभी किसी भाव की सीमा में आबद्ध नहीं रहता। परमलक्ष्य वही है—जहाँ शिष्य जैसे शिष्य नहीं रहता, उसी प्रकार गुरु भी गुरु नहीं रहते—दोनों की ही अखण्ड भावातीत सत्ता में, अद्वय रूप में प्रतिभा समान होती है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि अगर यह सत्य है तब ऐसे मौके पर क्या गुरु से उपदेश लिया जा सकता है? भाव का आश्रय करके क्या कभी भाव का अतिक्रमण किया जा सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर यों है—गुरु अगर अपने को गुरु मानकर उपदेश देते हैं तो वह उपदेश शिष्य को गुरुभाव तक ले जा सकता है। किन्तु गुरु में अगर गुरुत्व का अभिमान न रहे, अर्थात् गुरुभाव अगर भावातीत अखण्ड के साथ एक हो जाय तो गुरु के मुँह से निःसृत वाणी को अन्तर की वाणी समझना चाहिए—वह भावातीत वाणी है, अखण्ड का आह्वान है, असीम का भाव है। व्यक्तिविशेष या आधार-विशेष के भीतर से उसके प्रकाशित होने पर उस व्यक्ति-विशेष में अभिमान न रहने के कारण वह जीव को आकर्षित कर किसी भाव-विशेष में आबद्ध नहीं करता, परन्तु मुक्त अनन्त आत्मस्वरूप में पहुँचा देता है। इसीलिए कहा जाता है कि एक ऐसी स्थिति है जहाँ कोई शब्द नहीं पहुँचता, एक ऐसे स्वरूप का प्रकाश है जहाँ मनुष्य के वर्णन की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। उसी अखण्ड स्वप्रकाश सत्ता से स्वतःस्फुरित भाव में जो-जो प्रेरणाएँ आती हैं—चाहे वे शब्दों के भीतर से हों या शब्दातीत बोधरूप में हों—यहाँ तक कि भाव के भीतर से भाव रूप में ही हों, वे मनुष्य को सीमा में बद्ध नहीं रखतीं। उससे मनुष्य अपनी सभी भ्रान्तियों से मुक्त हो सकता है। वास्तव में वैसी स्थिति में गुरु के प्रतिष्ठित हो जाने पर गुरु फिर गुरु कहाँ रह जाते हैं! अर्थात् तभी वे वास्तव में गुरुपदवाच्य हो जाते हैं। क्योंकि वह गुरु भाव नहीं, भावातीत गुरु हैं। वस्तुतः उस स्थिति में एक के अलावा दूसरा भासमान नहीं होता। अतएव शिष्य का प्रश्न और गुरु का समाधान, ऐसी भाषा का प्रयोग उस स्थिति को लक्ष्य करके नहीं चलता। ऐसी अवस्था में जो वक्ता हैं, वही श्रोता हैं। वस्तुतः वक्ता कोई नहीं है, श्रोता भी कोई नहीं है। उसी एक ने अपने आलोड़नों को प्रस्फुटित कर रखा है जबकि इनका कोई निर्देशन मनुष्य की भाषा में प्रकट नहीं किया जा सकता। इस तत्त्व को

हृदयंगम कर लेने पर पूर्णावस्था में शरीर के रहने या न रहने का प्रसंग क्यों नहीं उठता, यह समझ में आ जाता है।

गुरु-शक्ति और पुरुषकार

दार्शनिक चिन्ता के प्रथम उन्मेष से ही कृपा और पुरुषकार का आपेक्षिक बलाबल और आपसी सम्बन्ध के बारे में, विभिन्न दृष्टिकोण से नाना प्रकार के विवाद होते आ रहे हैं। जिन लोगों को सद्गुरु का आश्रय प्राप्त हुआ है, वे यह जानते हैं कि कृपा शब्द में वस्तुतः गुरुशक्ति लक्षित होती है। इसके अलावा गुरुशक्ति अन्य कुछ नहीं है। यह ईश्वर की निजी शक्ति है, आर्त और अज्ञानी जीव का उद्धार करने के लिए वे इसका प्रयोग करते हैं। पुरुषकार कहने का मतलब है जीव का अर्थात् मनुष्य का व्यक्तिगत उद्यम। अब सवाल यह है कि कोई साधक स्वयं प्रयत्न करके ज्ञान-लाभ कर सकता है या नहीं, अथवा गुरु कृपा-शक्ति के बल से साधक बिना उद्यम के ज्ञान प्राप्त कर सकता है? द्वैत दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि गुरुकृपा केवल कृपा नहीं है। कृपा का संचार होने पर भी शिष्य की धृति-शक्ति के अभाव के कारण यथोचित रूप से वह काम नहीं कर पाता। आधार का काम है—धारण करना। गुरु से कृपा के रूप में जो शक्ति शिष्य में संचालित होती है, शिष्य का आधार उसे पकड़कर रख न सके तो वह शक्ति ठीक से काम नहीं कर सकती। शिष्य या आधार की धारण-शक्ति जरा भी कम या उसका अभाव होने पर गुरुदत्त कृपा की सम्पूर्ण सफलता नहीं मिलती। दूसरी ओर आधार चाहे जितना ही प्रबल हो तथा साधक का धारण-सामर्थ्य कितना ही अधिक क्यों न हो, कार्यकारिणी-शक्ति गुरु से संक्रान्त न होने पर केवल आधार की शक्ति से कोई फल नहीं मिलता। यही है साधारण मीमांसा।

किन्तु जिस दृष्टि से यह देखा जाता है कि शिष्य या साधक की धारण-शक्ति अत्यन्त कम है और इसलिए गुरु का शक्ति संचार तत्काल अर्थात् अविलम्ब फल प्रसव नहीं कर सकता, उस दृष्टि के अनुसार यह कहना पड़ेगा कि गुरु का पूर्ण दायित्व तभी सफल हो सकता है जब वे शिष्य की प्राप्ति की ओर नहीं, बल्कि ग्रहण की दिशा में भी अवसर और योग्यता का सम्पादन कर दें। गुरु ने आलोक-दान करके जगत् के अनन्त वैचित्र्य दर्शन करने का सौभाग्य प्रदान किया है, यह सत्य है। साधक की दृष्टि अगर अंधकार में आच्छन्न रहे तो वह आलोक विश्व, जगत् को भले ही प्रकाशमान कर दे, पर उससे किसी प्रकार का कार्य सधता नहीं। इसलिए गुरु केवल आलोक देकर निवृत्त हो जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी सारी जिम्मेदारी समाप्त हो गयी। आलोक-दान के साथ-

साथ आलोक-ग्रहण करने का सामर्थ्य अर्थात् अन्धे का अंधत्व-मोचन करना भी उनके कर्त्तव्यों का अंग बन जाता है। इसलिए चरम विश्लेषण से कहना पड़ता है कि कृपा और पुरुषकार की क्षीणता या दुर्बलता उत्कट-कृपा के बल से दूर हो सकती हैं। इसके अलावा अन्य दृष्टि से देखने पर यह भी सत्य है कि जितना पुरुषकार जीव में निहित है, उसके मूल में भी कृपा विद्यमान है। पुरुषकार के मूल पें इच्छाशक्ति और कृपा के मूल में गुरुशक्ति है। जरा-सा अन्तर्मुखी होकर अनुधावन करने से समझ में आता है कि गुरुशक्ति इच्छा-शक्ति का मूल है। एक हिसाब से दोनों ही एक हैं, फिर भी भेददृष्टि से देखने पर गुरुशक्ति से इच्छाशक्ति का आविर्भाव होता है। अतएव इच्छाशक्ति की तीव्रता गुरुशक्ति पर निर्भर रहती है, गुरुशक्ति महाशक्ति है। इच्छाशक्ति संकल्प-विकल्पात्मक होने पर जीव की शक्ति और शुद्ध संकल्पात्मक होने पर वही ईश्वर की शक्ति हो जाती है। संकल्प के साथ द्वितीय संकल्प का मिश्रण रहने पर वही विकल्प के रूप में परिणत हो जाता है। विकल्प के अभाव में अथवा संशय के अभाव में वही सत्य संकल्परूप धारण कर ऐसी शक्ति के रूप में आत्मप्रकाश करती है। वस्तुत: दोनों की यही इच्छा है। एक इच्छा में रजोगुण और तमोगुण की क्रियाएँ रहती हैं, दूसरी इच्छा में निर्मल सत्त्वगुण का भाव-मात्र रहता है। किन्तु महाशक्ति में इच्छा नहीं है। वह इच्छा-हीन पूर्ण स्वातंत्र्य की अवस्था है। गुरुशक्ति और इच्छाशक्ति इन दोनों क्षेत्रों में एकमात्र स्वयं प्रकाश महाशक्ति ही कार्य करती है। इसलिए वस्तुत: कोई यदि गुरु स्वीकार न भी करे तो यह अवश्य ही स्वीकार्य होगा कि मूल में एकमात्र महाशक्ति का स्वभाव ही लीला कर रहा है। गुरुभाव स्वीकार करने पर भी यह जैसा सत्य है, गुरुभाव अस्वीकार करने पर भी यह वैसा ही सत्य है।

●

दीक्षा का स्वरूप-१

दीक्षा या उपनयन को द्वितीय जन्म कहा जाता है। क्या जन्मता है? वह भी देह। अवश्य ही विशुद्ध देह (C F विशुद्धज्ञानदेहाय etc.) यही है वास्तव में सूक्ष्म देह, ज्ञान देह। इस विशुद्ध देह का आदि जाना जाता है, किन्तु अन्त नहीं जाना जाता। अतएव यह विशुद्ध देह अन्तहीन या अमर है। यही अमृतदेह दिव्यदेह है। इसका अन्त नहीं है। सहस्र-सहस्र शुद्ध देहों का ग्रहण हो सकता है, किन्तु यह मूल शुद्ध देह उसमें रहेगी ही। वे सब नाना देह इस एक शुद्ध देह का अवान्तर भेद-मात्र हैं।

दीक्षा से क्या होता है? जिस मूल कारण से 'गर्भवास होता है, वह एक बिखेरी हुई चीजें हैं—अज्ञान, मल आदि। जो नष्ट हो जाते हैं। पूर्ण का निग्रह ही इस मल या अज्ञान का कारण है। उनका अनुग्रह ही इसका नाशक है। दीक्षा उसी अनुग्रह का फल है। यह नाश दीर्घकाल में भी हो सकता है और शीघ्र भी हो सकता है। इसलिए क्रम-दीक्षा की दरकार हो सकती है। प्रथम दीक्षा में केवल मल निवृत्त होता है। इसलिए दीक्षा होने पर फिर यहाँ पुनरागमन नहीं होता। अवश्य ही दो-एक बार आना पड़ सकता है—वह भी यहाँ की दीक्षा पूरण करने के लिए। पर उस आने का कोई मूल्य नहीं है—क्योंकि उससे कुछ अटकता नहीं।

मर्त्यलोक से छुट्टी पाने पर भी दीक्षा की आवश्यकता है। उक्त छुट्टीदायिनी दीक्षा निगेटिव है, सामान्यतः पाजिटिव। विशेष व्यक्ति के लिए विशेष दीक्षा का प्रबन्ध है।

दीक्षा एक प्रकार से (Ingraffing) बीज = भाव (= सत्ता)—शक्ति—ज्योति—नाद की समष्टि है। यही देवता है। क्षेत्र = चित्त या मन, जो दर्पणवत् है; चित्त दर्पण में सदा नाना चित्र उभर रहे हैं और लय हो रहे हैं—भिन्न-भिन्न चिन्ताओं के कारण। चित्त एकाग्र न होने के कारण चित्र स्थिर नहीं रह पा रहा है। यही दर्पण ही सूक्ष्मदेह है। सूक्ष्मदेह—एक ज्योति है, जिसे स्थूलदेह के निचोड़ने पर पाया जाता है। यह ज्योति तीसरे नेत्र के द्वारा बाहर निकल कर सामने आती है। बाद में स्थूल की छाया पड़ती है तब वह स्थूल की तरह दिखाई देती है। इस देह में सर्वदा नाना रंग के चित्र उभरते हैं। किन्तु कोई स्थायी नहीं रहता, जब चिन्ता की जाती है तब रहता है और बाद में नहीं रहता।

मन में सोचो रामरूप। यह चिन्ता के साथ-साथ उदित होता है, फिर चला जाता है। दीक्षा के व्यापार में गुरु जब रामबीज चित्त में वपन करते हैं तब चित्त के

साथ उसकी एक योजना को लपेट देते हैं। वह चित्त से अलग नहीं रह पाता। एक रासायनिक क्रिया होती रहती है। चित्त को गलाकर उसमें उड़ेल देना चाहिए। उस वक्त चित्त में उक्त बीज रह जाता है। चित्त जीवन्त है—इसलिए धीरे-धीरे वह बीज बढ़ता रहता है। अन्त तक वह जीवित रहता है। पहले एक ज्योति का विकास होता है। दीक्षित के सूक्ष्म शरीर में यह ज्योति देखने में आती है। यद्यपि नाना चिन्ताएँ होती हैं, पर वह ज्योति गायब नहीं होती। क्रमशः एक रूप निखर जाता है—पहले अस्पष्ट फिर स्पष्ट। मान लो—रामरूप। यह रामरूप कितना ही अस्पष्ट रहे—रहता है। अन्य चिन्ताजनित रूप अलग हैं—वे आते-जाते हैं। रामरूप मगर ऐसा नहीं है। चित्त का अपना जो रूप है, अर्थात् स्थूल प्रतिबिम्ब रूप, वह क्रमशः उसी रामरूप में बदल जाता है। यही है, उपादान का परिवर्तन। क्रमशः एक समय ऐसा आता है जब चित्त अर्थात् सूक्ष्मदेह स्थूल के अनुरूप आकार विशिष्ट न रहकर रामाकार हो जाता है। द्रष्टा चित्र को रामरूप में देखता है।

इस दीक्षा में जरा और रहस्य है। जैसे यदु ने गोपाल को राम मंत्र में दीक्षा दी। इसके फलस्वरूप गोपाल का चित्त या सूक्ष्मदेह रामाकार—राममय होने लगता है। फलस्वरूप वह चित्त बिलकुल रामभाव को प्राप्त होगा। यदु को भी क्या? यदु तो स्वतः राममंत्र में सिद्ध है। इसलिए वह उस मंत्र की दीक्षा दे सकता है। अर्थात् यदु स्वयं राममंत्र में दीक्षित हैं, इसलिए उसमें राम-ज्योति है। किन्तु स्वयं ज्योति मात्र रहते हुए ज्योति-दान नहीं किया जा सकता। यदु रामरूप प्राप्त होने से दीक्षा-दान कर सकता है। वही दीक्षा = ज्योतिदान है। यदु को रामशक्ति प्राप्त होने पर उनकी दीक्षा के फल से रामरूप लाभ हो सकता है। यदु के राम-सायुज्य प्राप्त कर लेने पर इस दीक्षा से राम-शक्ति लाभ हो सकता है। अवश्य ही सर्वत्र चरम में गुरु के बराबर-बराबर हो जाना सम्भव है। पर जरा-सी बाधा है। यदु राम-सायुज्य प्राप्तकर द्रष्टा अगर बन जाय तो वह यथार्थ गुरु पदवाच्य हो सकता है। सायुज्य अवस्था = राम की सत्ता के साथ-साथ अभेद या बीज भाव है। द्रष्टा होने पर ब्रह्मभाव उदय होता है। अतएव उस वक्त राम ब्रह्मज्ञ है। इसलिए यथार्थ गुरु है। उस अवस्था में बीज या सत्त्व से ज्योति तक सभी देवता स्वरूप या मंत्र उसके अधीन हो जाते हैं। यही मंत्रेश्वर की अवस्था है। मंत्र = देवता। मंत्रेश्वर = गुरु (ब्रह्मज्ञ), (सिद्ध, देवता—तत्त्वज्ञ)। मंत्र महेश्वर = सद्‌गुरु (पूर्ण ब्रह्मज्ञ)। मंत्रेश्वर उसी मंत्र के द्रष्टा या अधिष्ठाता हैं। मंत्रमहेश्वर सर्व मंत्रों के द्रष्टा या अधिष्ठाता हैं। यही गुरुरूपी पूर्णब्रह्म या सदाशिव का स्फुरण है। यही जगद्‌गुरु का आदर्श है। मंत्र के साथ मंत्रेश्वर का क्या सम्बन्ध है? मंत्र मंत्रेश्वर का बीज, वीर्य, Idea (शुद्ध) है। सदाशिव = अनन्त शुद्ध बीज सम्पन्न अवस्था है। यही गुरुतत्त्व

है। शिव = बीजहीन अवस्था है। यह गुरु नहीं है। मंत्र = विद्या = शुद्ध विद्या। यही सदाशिव की शक्ति है।

दीक्षा नाना प्रकार की हैं। चाक्षुषी-दीक्षा में चक्षुपथ से कला बाहर आती है और शिष्य में प्रवेश करती है। शाब्दी-दीक्षा में शब्द के साथ ही मुँह के रास्ते से कला बाहर निकलकर शिष्य में प्रवेश (कान के रास्ते से) करती है। नाना दीक्षाएँ हैं—सर्वत्र कला बाहर होने के साथ उसके घुसने की भी प्रणाली है। चाक्षुषी-दीक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि दोनों ही चक्षु (दिव्य) पथ है। चक्षु मस्तक के बाद श्रेष्ठ पथ है। इसके बाद मुँह, साथ-साथ (दाहिना) कान का स्थान है। ज्ञान के क्षोभ के समय ज्ञानी के मुँह की बातों में ज्ञान भरे रहते हैं—बिलकुल ज्योतिर्मय। उसे ग्रहण करने पर ज्ञान पाया जा सकता है। कबीर ने रामानन्द से केवल शब्द ही पाया था—अवश्य ही अन्य भाव में वह उच्चारित था। शुद्ध कला पाने पर वह फिर मनुष्य से बाहर नहीं निकलता, क्योंकि वह मलिन नहीं होता। मलिन ही बाहर निकलता है। भुक्त होने के कारण वह मलिन होता है। शुद्ध कला तक आते-आते वह क्रमशः संचित होता है। उसका नाश नहीं होता, पर आवरण पड़ सकता है। एकाग्र होने पर ज्ञान का विकास होता है, ऐसी बात नहीं है। कारण ज्ञान का संचार रहना चाहिए। अगर चित्त में ज्ञानबीज संचारित होता रहे तो एकाग्रता के द्वारा उसे उठा लिया जा सकता है। किन्तु वह अगर न रहे तो केवल एकाग्रता से क्या होगा? इसलिए दीक्षा की आवश्यकता पहले है। बाद में एकाग्रता के लिए साधनाभ्यास करना चाहिए। वगैर दीक्षा के केवल एकाग्रता से क्या लाभ होगा? मगर यहाँ एक रहस्य है। मनुष्य के जन्म के समय भगवान् उसे दीक्षा देते हैं अर्थात् ज्ञान का बीज लेकर ही वह जन्म ग्रहण करता है, मनुष्य-मात्र ही—पशु आदि नहीं। इसलिए पशु आदि के लिए न साधना है और न दीक्षा। पर ज्ञानबीज किसी काम में नहीं आता। वह दबा पड़ा रहता है। अचानक किसी विशेष कारण से किसी-किसी का प्रकट हो जाता है। साधारणतः दीक्षा आवश्यक है। ज्ञानबीज के उद्दीपन के लिए दीक्षा आवश्यक है। अगर वह न रहे तो बाहर से गुरु ज्ञान नहीं दे सकते। भीतर जो नहीं है, बाहर उसे दिया नहीं जा सकता। जिस आधार में वह ज्ञानबीज दबा है, वहाँ एकाग्रता के उद्यम से एकाग्रता नहीं आती—निरोध आता है। वास्तव में वह निरोध नहीं है—वह लय-मात्र है। वह अपनी प्रकृति में लय होती है, बिना उद्यम भी—वह आती है—प्राकृतिक संकोच काल में।

प्रथम दीक्षा का उद्देश्य ही है अव्यक्त से बीज का निर्माण करना, शिष्य के आधार पर बीज रूप में अव्यक्त को प्रकट करना। लक्ष-लक्ष बीज क्षेत्रों में हैं, किन्तु उक्त ज्ञान-बीज प्रादुर्भूत होकर उन सभी अ-ज्ञान बीजों को अभिभूत करेगा। इसके बाद शिष्य कर्म के द्वारा उसे और निखार सकता है—इस कार्य में बाह्य गुरु

भी सहायता कर सकते हैं। क्रमशः देह स्थिर, प्राण स्थिर, इन्द्रिय स्थिर, मम स्थिर, बुद्धि स्थिर होगी—यह पहले ही दिखाया जा चुका है। इसके बाद ही फल-प्राप्ति होगी—साक्षात्कार।

बीज निर्माण की बातें उतनी सही नहीं हैं। क्योंकि बीज नित्य है। अव्यक्त में भी बीज रहता है। पर अव्यक्त होने के कारण उसमें बीजत्व नहीं है। असली बात यह है—बीज का आविष्कार और उद्धार करना। अवश्य ही बीज = ज्ञान-बीज है। इस बीज का उद्धार न होने तक जीव की गति नहीं होती। इनका उद्धार वही कर सकते हैं जो अव्यक्त के द्रष्टा अर्थात् पूर्ण हैं। अव्यक्त ही प्रलय-मूला प्रकृति है। भगवान् के अलावा अन्य कोई यह कार्य नहीं कर सकता। इसी को कहते हैं—प्रलय सलिल या कारण वारि-राशि से वेदों का उद्धार करना। इसीलिए भगवान् को वेदों का उद्धारकर्ता कहा गया है। भगवान् का यही विश्वगुरु रूप है। प्रलय या जड़ता—मोह से चैतन्यशक्ति को विविक्त कर, उसे अलग न करने पर पूर्ण की ओर गति असम्भव है। यही विविक्त चैतन्यशक्ति ही चेतन शब्द या वेद या मंत्र है : हृदय ही एकमात्र स्थान है जहाँ नाड़ी नहीं है। मन वहाँ निष्क्रिय है। गुरुमंत्र देते समय शिष्य के बहिर्मुखीन मन को हृदय में ले आते हैं और वहीं दीक्षा देते हैं। फलस्वरूप वह अन्तर्मुखीन गति लाभ करता है—यह हृदय से ब्रह्मरन्ध्र में गमन करता है।

मन प्रमत्त अवस्था में हृदय के बाहर अवस्थान करता है, जहाँ काल का राज्य है। काल के राज्य का गतिचक्र है। मंत्र पाने के बाद मन काल के राज्य अर्थात् माया के राज्य को छोड़कर महामाया के राज्य में प्रवेश करता है। उस वक्त काल के साथ मन का सम्बन्ध क्षीण से क्षीणतर होता रहता है। इस सरल गति को प्राप्त करने का अर्थ है—अर्द्धमात्रा में प्रवेश एवं वहाँ से अग्रसर होकर काल के परमाणु या लव शान्त में जाया जा सकता है, वहाँ जाते ही गति स्तब्ध हो जाती है। इसके बाद उन्मनी शक्ति आकर उसे परमशिवत्व या पूर्णत्व में ले जाती है। अगर कोई काल के परमाणु को शान्त में बिना पहुँचाये समर्पण करता है तो पूर्णत्व का लाभ नहीं होगा, किन्तु खण्ड प्राप्ति होगी। पर दोनों काल राज्य से मुक्त होंगे। खण्ड में अहं-इदं रहता है और अखण्ड में केवल अहं रहता है जिसे 'पूर्णाहन्ता' कहा जाता है।

साधारणतः गुरु व्यक्तिसत्ता में पूर्णत्व की जितनी कमी रह जाती है, वह दीक्षा के द्वारा पूर्ण की जाती है। गुरु शिष्य की सत्ता की कमी को लेकर पश्यन्तीरूपी पूर्णत्व में डुबकी लगाते हैं और वहाँ से शेष अंश को लाकर बीजाकार में उसे दान कर देते हैं। वह अर्थात् शिष्य जप के माध्यम से पूर्णत्व में पहुँच जाता है। मुख्य रूप से कहा जा सकता है कि बीजमंत्र वही है जिसके द्वारा

शिष्य को पूर्णत्व सम्पन्न किया जाता है। अर्थात् पूर्ण से शिष्य की वर्तमान सत्ता का वियोग करने पर जो कुछ शेष रहता है, उसको बीजमंत्र के द्वारा पूर्ण किया जाता है। जीव पूर्ण है, जबकि उसकी पूर्णता सुप्त रहती है। श्वास-प्रश्वास ही अपूर्ण के लक्षण हैं। उसी पूर्णत्व को जगाना पड़ता है—दीक्षा के द्वारा

दीक्षा की तरह दीक्षा होने पर गुरु-शक्ति का संचार होता है। कृपा आयेगी ही, आयेगी।

प्राचीनकाल में मुनि-ऋषिगण दीक्षा को आध्यात्मिक विवाह कहते थे। दीक्षा के द्वारा पॉजिटिव और निगेटिव को मिला दिया जाता था। जिस प्रकार सामाजिक-विवाह में स्त्री-पुरुष को मिलाकर एक कर दिया जाता है, पूर्ण किया जाता है।

गुरु को घटक कहा जाता था। आजकल यह सब बातें कोई समझ नहीं सकता, क्योंकि आधुनिक लोगों में वह दृष्टि शक्ति नहीं है। जीव पूर्ण है, किन्तु उसमें उसकी शक्ति सुप्त रहने के कारण वह अपूर्ण प्रतिभात होता है। शक्ति के जागरण के द्वारा उसी पूर्णता को ले आना पड़ता है। दीक्षा के द्वारा ही शक्ति का जागरण होता हैं।

एक महिला आकर बोली कि उनकी दीक्षा वैष्णव मंत्र से हुई है। किन्तु उनका आकर्षण शक्ति के प्रति है। ऐसी हालत में क्या करणीय है? उनके इस प्रश्न के उत्तर में बाबा ने कहा—"यह कठिन प्रश्न है—इसका कारण—दीक्षागुरु ने पूर्वजन्म पर बिना विचार किये दीक्षा दे दी, फलतः यह उद्भव हुआ है।" बहरहाल, बाबा ने उससे कहा—"गुरुदत्त बीज मंत्र जप करने के बाद इष्ट देवता से अनुमति लेकर माँ का ध्यान करना।"

दीक्षा १०८ प्रकार की है। शक्तिपात ९ प्रकार से होता है—तीव्र-तीव्र, तीव्र-मध्यम, तीव्र-मन्द, मध्यम-तीव्र, मध्यम-मध्यम, मन्द-तीव्र, मन्द-मध्यम, मन्द-तीव्र, मन्द-मन्द।

शक्तिपात है इच्छाशक्ति और दीक्षा है क्रियाशक्ति। उपमा देते हुए उन्होंने कहा—"मैं घर का मालिक हूँ, मेरी इच्छा हुई कि आज पीठा[१] खाऊँगा। इसके बाद उस इच्छा को रूप देने के लिए घर के लोगों ने जैसे सीताराम, शंभु, महाराजिन ने मिलकर पीठा बनाया। यही इच्छा है शक्तिपात और इच्छा को रूप देने के लिए जो क्रिया हो रही है, वहीं है क्रियाशक्ति।"

दीक्षा देने के पहले सद्गुरु यह देखते हैं कि दीक्षाप्रार्थी में शक्तिपात हुआ है या नहीं। यदि हुआ है तो दीक्षा देते हैं वर्ना नहीं देते, और दीक्षा का प्रकार इस पर निर्भर करता है कि कितना शक्तिपात उसके ऊपर हुआ है। अतएव दीक्षाप्रार्थी

---

१. एक प्रकार का पकवान।

होने पर भी दीक्षा प्राप्त नहीं होती। किन्तु गुरु में यह देखने की क्षमता होनी चाहिए।

साधारणतया पुरुष गुरु होते हैं—स्त्री गुरु नहीं हो सकती। जब स्त्री-शरीर दीक्षा-दान करता है तब समझना चाहिए कि उसमें पुरुष-शरीर काम कर रहा है। श्री श्री सिद्धिमाता से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा था—जिनके भीतर वह हैं, वही दीक्षा देते हैं। स्त्री-शरीर में कुछ न्यूनता है। इसका व्यतिक्रम शास्त्रों में है। जब स्त्री-शरीर ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान प्राप्त करता है तब उसे दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त होता है, क्योंकि आत्मा पुरुष है।

शक्तिपात के बाद दीक्षा होती है। सद्‌गुरु के निकट दीक्षा के लिए जाने पर वे कहते हैं—"अभी समय नहीं हुआ है—कुछ दिन बाद आना।"* इससे समझ में आता है कि अभी शक्तिपात नहीं हुआ है अर्थात् परमेश्वर का अनुग्रह नहीं हुआ है।

दीक्षा अनेक प्रकार से होती है, पर प्रधानतः दो प्रकार से दी जाती है। गुरु अपना अर्जित साधन-फल शिष्य को अर्पण करते हैं, फलतः शिष्य जल्दी से साधन-पथ पर अग्रसर होता है एवं परम प्राप्ति करता है। दूसरे क्षेत्र में गुरु अपना अर्जित साधन-फल शिष्य को नहीं देते। उसे जो कुछ देते हैं, उसके द्वारा साधना करते हुए उसे अग्रसर होना पड़ता है। गुरुदत्त कर्म को प्रारम्भ से शुरू करना चाहिए।

यदि कोई सद्‌गुरु अपने शिष्य को ज्ञानदान करना चाहते हैं तो वे पश्यन्ती भूमि में जाकर शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभिन्न रूप में साक्षात्कार करने के बाद शब्द को लेकर मध्यमा से बैखरी में उतर आते हैं और शिष्य के कान में चुपके-चुपके उसे सुना देते हैं। शिष्य का काम है कि उसे क्रमागत मशीन की तरह जप करते हुए मध्यमा से पश्यन्ती तक पहुँच जाय। अर्थात् शिष्य को यदि गुरु ने कृष्ण मंत्र से दीक्षित किया है तो शिष्य के नियमित जप करते रहने के कारण वह अपने इष्ट श्रीकृष्ण का दर्शन कर सकेगा—शब्द और अर्थ वहाँ एकसाथ आविर्भूत होंगे। तीव्र संवेग रहने पर बहुत कम समय में उनका दर्शन हो सकता है, अन्यथा समय लगता है।

स्वगत भाव में उन्होंने कहा—'दीक्षा जब पाओगे तब किसी प्रकार की बाहरी Formality की जरूरत नहीं होगी। दीक्षा है—भगवान् की करुणा।' राम ठाकुर महाशय कहा करते थे—दयापूर्वक ईक्षण है दीक्षा। जब उक्त शुभ-दृष्टि तुम पर पड़ेगी तब तुम्हारी दीक्षा हो जायगी। बाहर कोई Show रहा या नहीं रहा that does not matter at all. इस वक्त दीक्षा तत्त्व को बड़ा नहीं समझा जाता, केवल Ceremony को देखा जाता है। फलतः उक्त Ceremony किसी एक के निकट प्रयोजनीय हो सकता है, वही दूसरे के निकट प्रयोजनीय नहीं हो सकता।

दीक्षा क्या है, इसे सभी लोग समझ नहीं पाते। फॉर्मेलिटी करना है, करते हैं। असली बात यह है कि उक्त दीक्षा न होने पर तुम पाओगे कैसे? दीक्षा न होने पर लाख-करोड़ वर्षों में भी वह चीज तुम पा नहीं सकते। दीक्षा के माने आडम्बर या फॉर्मेलिटी है, यह तो नहीं है। बाहरी दीक्षा तुम्हारी नहीं हो सकती है, भीतर हो सकती है। भगवान् जब कृपा करेंगे तब शक्ति का योग होगा वर्ना कैसे जाओगे तुम? जब तक तुम्हें शक्ति नहीं दी जायगी तब तक तुम जाओगे कैसे?

एक जिज्ञासु का प्रश्न—दोबारा दीक्षा लेते हुए भी देखा गया है—

उत्तर—यह भी हो सकता है, जरूरत होने पर ली जा सकती है, दूसरी ओर नहीं भी ली जा सकती। बाहर से पूछना नहीं चाहिए। अच्छे-अच्छे महापुरुषों में भी देखा गया है कि एक जगह ले चुके हैं, फिर एक जगह लेना पड़ा है—जैसे एक मास्टर के निकट पढ़ा, फिर दूसरे मास्टर के निकट पढ़ा, ऐसा होता है। पर ऐसा न हो तो अच्छा, इससे कम समय लगता है। निष्ठा तो रहती है—एक निष्ठा रहती है। किन्तु इससे कौन-सी क्षति होती है। अगर दस जन गुरु रहते हैं तो जगत् गुरु। इतनी पुस्तकें हम पढ़ते हैं, प्रत्येक से कुछ ज्ञान-लाभ करते हैं। गोकि वह लौकिक ज्ञान है—एक में पाता हूँ तो दूसरे में नहीं पाता—इसका क्या कोई अर्थ है? अगर निष्ठा है तो एक में ही सब पाया जा सकता है—ज्ञान चाहो, भक्ति चाहो, प्रेम चाहो, एक में सब पाओगे।

निगमानन्द परमहंस थे, उनके योगी गुरु अलग थे, तांत्रिक गुरु अलग थे, इसके बाद ज्ञानी गुरु, फिर प्रेमिक गुरु—इस प्रकार ४ गुरु थे। उन्हीं के शिष्य श्रीमत् अनिर्वाण—एक महापुरुष थे। १० जन हों, २ जन हों, मूल में दीक्षा एक के निकट होती है। बाहर चाहे जितना भी हो, मूल में एक ही है।

एक और जिज्ञासु का प्रश्न—अक्सर सुनता हूँ जब तक दीक्षा नहीं होती तब तक कुछ नहीं होता।

उत्तर—ठीक बात है। तुम अगर बिना दीक्षा लिये उन्हें बुलाओगे तो वह वृथा नहीं जायगा, किन्तु प्राप्ति नहीं होगी। अगर एक जन न दें तो पाओगे कैसे? यह सब न समझने के कारण नाना प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं। दीक्षा न लेने पर चीज पाओगे कैसे? अगर गुरु तुम्हें ज्ञान न दें तो तुम ज्ञान पाओगे कैसे? एक गुरु तुम्हें वर्ण परिचय न करायें कि यह क है, यह ख है, यह ग है, और अगर तुम कहो कि मैं यह सब नहीं जानता तो तुम्हारा कुछ नहीं होगा इसी तरह सिखना पड़ता है। अगर नहीं सीखोगे तो बड़े पुस्तकालय की कोई पुस्तक नहीं पढ़ सकोगे। तब तो मास्टर द्वारा सिखाये हुए क, ख, ग, घ को ही मानना पड़ेगा। इसके बाद मान लेने पर देखोगे कि इस ज्ञान के माध्यम से पुस्तकें पढ़ी जा सकती हैं। मान न लेने पर होता नहीं। आध्यात्मिक जगत् में गुरुकरण का भी यही रूप

है। जिसके हाथ में जो चीज है—जिसके हाथ में पॉवर है, अगर वे न दें तो पाओगे कैसे? तुम्हारे घर की सम्पत्ति तो है नहीं। भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं (देह धारण करते हैं) तब उन्हें भी दीक्षा लेनी पड़ती है। सामाजिक हिसाब से यह एक प्रयोजन है। भीतर भी प्रयोजन है।

अगर भीतर से वह वस्तु खुल जाय तो दरकार नहीं भी हो सकती है। शुकदेव कौन थे? वे शिशु अवस्था में ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। सभी का ऐसा नहीं होता। अन्दर में असली दीक्षा है, उसे लेना ही होगा। वह बाहरी फॉर्मेलिटी नहीं है। इसमें न तो पैसा खर्च करना पड़ेगा और न उसके लिए चीज खरीदनी पड़ेगी, न मंत्र पढ़ना होगा, तब इस चीज को मानना पड़ गया। न मानने पर तुम पाओगे नहीं। मुझमें जो ज्ञान है, अगर मैं न दूँ तो तुम पाओगे कैसे? इसी तरह की बातें हैं। बाहरी जो दीक्षा है, वह नहीं हुई, पर चीज पा गये हो, ऐसा हो सकता है। वह भीतर ही हो जाता है। बाहरी चीजों की जरूरत नहीं होती। रामकृष्ण परमहंसदेव विशेष शिक्षित नहीं थे, पर उन पर माँ की इतनी कृपा कैसे हो गयी?

बारिन बाबू ने पूछा—दीक्षा के अलावा क्या नाम से कुछ नहीं होता?

बाबा ने कहा—नाम का फल होगा। भगवान् का नाम कभी व्यर्थ नहीं जाता। नाम का फल है—मुक्ति। नाम से प्रेम, भक्ति नहीं आती। सुषुम्ना का भेद होना चाहिए। सुषुम्ना को जागना चाहिए इसके बाद भेद होना चाहिए। सूक्ष्मज्ञान से चैतन्य का विकास होता है, प्रेम-भक्ति नहीं रहती।

बारिन बाबू ने पूछा—परमगुरुदेव की धारा में दीक्षा देने की व्यवस्था नहीं है। उस धारा पर जिनका विश्वास है, वे लोग अन्यत्र दीक्षा लेना नहीं चाहते। उनके सहारे रहने पर क्या सब हो जायगा?

बाबा ने कहा—जरूर होगा। पहले दीक्षा का फल नहीं होगा। प्रकाश होने पर सब होगा। प्रेम-भक्ति चाहिए। प्रेम-भक्ति रहने पर सब होता है। वह वस्तु मिलनी चाहिए। भगवान् के प्रति प्रेम-भक्ति वृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जबकि चेष्टा के द्वारा कुछ नहीं होता। चेष्टा बिना किये भी नहीं होगा, चेष्टा करने पर भी नहीं होगा। भक्ति तो चाहिए ही। प्रेमभक्ति—'मेरी माँ हैं, मैं उनका हूँ' सब ठीक है, फिर कोई भी ठीक नहीं है, उनकी तुलना नहीं है। 'आश्रय लेकर जो भजता है, उसे कृष्ण नहीं त्यागते'। आश्रय क्या है? आश्रय—मैं तुम्हारा हूँ।

सांख्य का ज्ञान या वेदान्त के ज्ञान के लिए दीक्षा की आवश्यकता नहीं है; किन्तु परमेश्वर से ज्ञान प्राप्त करने के लिए दीक्षा के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।

जो ज्ञान परम शिव में नित्य विराजमान है, उसका एक कण शिष्य प्राप्त करता है। उस कण के माध्यम से वह महाज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी का नाम

दिव्य ज्ञान है, इसकी जड़ में स्वयं परमेश्वर हैं। सद्गुरु के रूप में दीक्षा के द्वारा इसी का वे संचार करते हैं। जीव में जब एक देहात्मबोध रहता है तब तक यह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में परमेश्वर के यहाँ से नहीं आता। मनुष्य या सिद्धपुरुष अथवा देवता, किसी के भी माध्यम से यह प्रकट होता है। यही गुरुपदवाच्य है। दिव्यगुरु, इनके नीचे सिद्धगुरु और इनके नीचे मनुष्यगुरु होते हैं। भिन्न-भिन्न गुरु होने पर भी गुरु-शक्ति एक ही है। साधारण योग्य शिष्य मानवीय गुरु से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसके पास अधिकार-सम्पद है, वह सिद्धगुरु प्राप्त कर सकता है। जिनका अधिकार काफी उच्च है, वह दिव्य-गुरु प्राप्त कर सकता है। स्मरण रखना होगा कि अलग-अलग गुरु होने पर भी ज्ञान एक ही है। साधारण मनुष्य दिव्यगुरु प्राप्त नहीं कर सकता। कैसे ज्ञान प्राप्त कर सकता है? अगर कोई योग्य हुआ तो वह प्राप्त कर सकता है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने भगवती से साक्षात् रूप से ज्ञान प्राप्त किया था। शंकराचार्य के परमगुरु गौडपाद ने शुकदेव से ज्ञान प्राप्त किया था। वे सिद्धगुरु थे। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में समझना चाहिए। यह जान लेना चाहिए कि समस्त ज्ञान ही श्री भगवान् के चरणों से बहिर्गत होता है। अगर ऐसा होता है तो गुरु की आवश्यकता क्यों है? गुरुवर्ग ज्ञान के वाहक होते हैं जो लोग साक्षात् भगवान् से ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते, उनके लिए गुरु आवश्यक हैं। सिद्ध योगियों को आवश्यकता नहीं होती। भगवान् ही उनके ज्ञान के आधार होते हैं। मनुष्य में जब तक देहात्मज्ञान रहता है तब तक प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। भगवान् की इच्छा से ही यह परम्परा आती है। रूप के सहारे प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान आने पर, अगर देहाभिमान है तो उसके आधार पर योग्यतानुसार क्रिया-शक्ति प्रकट होती है। इस ढंग का नाम है—दीक्षा रहस्य। देहाभिमान रहने पर दीक्षा की जरूरत होती है। और एक रहस्य को जान लेना चाहिए। अगर भगवान् का शक्तिपात तीव्र होता है तो शक्ति-संचार के साथ-साथ शिवत्व प्राप्त होता है—कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अगर भगवान् का शक्तिपात कुछ न्यून हुआ तो साधक में प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है, अर्थात् बाह्यगुरु की आवश्यकता नहीं होती, भीतर से ही ज्ञान का उदय होता है। यही अनौपदेशिक ज्ञान है, इसी का नाम प्रातिभ है। भगवान् की शक्ति अगर और भी मृदु हुई तो अन्तर्जगत् में चिन्मय गुरु का दर्शन होता है। चिन्मय स्वरूप होने के लिए शिष्य ज्ञान प्राप्त करता है। यह नीचे की स्थिति है। जब शक्तिपात और भी कम हो जाता है तब बाहरी गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु के उपदेश से ज्ञान संचारित होने पर भी शिष्य को प्रयत्न करना पड़ता है।

इसी प्रकार अनन्त प्रकार के भेद हैं। यहाँ एक बार याद रखनी चाहिए कि गुरु ज्ञान देकर पौरुष अज्ञान की निवृत्ति करते हैं, पर बौद्ध अज्ञान देहात्मबोध का

है जिसका विनाश गुरु नहीं कर पाते। साधना के द्वारा इसका नाश किया जाता है। देहात्मबोध रहने पर साधना की आवश्यकता होती है। पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने के बाद गुरु-कृपा से ज्ञान प्राप्त होता है। देहात्मबोध रहने के कारण प्राप्त ज्ञान की उपलब्धि के लिए (बुद्धि स्थित) साधना की आवश्यकता होती है।

नित्य-कर्म बिना किये अन्य कर्म नहीं करना चाहिए। हृदय का परिष्कार करने तथा नित्य-कर्म के अधिकार के लिए उपनयन या दीक्षा है। बिना दीक्षा लिए ठीक-ठीक नित्य-कर्म होता नहीं। इस कर्मफल से एक आलोक तैयार होता है जो हृदय को आलोकित करता है। दीक्षा न होने से वह आलोक सहज ही कर्म के द्वारा तैयार नहीं होता। पर तीव्र कर्म होने पर भी वह नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है। प्रत्यह कुछ-कुछ आलोक को पैदा करना चाहिए—फलस्वरूप नित्य जरा-जरा हृदय शुद्ध होता है, धीरे-धीरे होता है। मान लो—हृदय शुद्ध होकर दस आने शुद्धि में स्थित है, किन्तु प्रतिदिन जो नाना प्रकार की पाप-चिन्ता और आवरण होते हैं, उससे और आवरण होते हैं। नित्य कर्म से वे आवरण दूर हो जाते हैं। दैनिक पाप का क्षय होकर चित्त के स्टैण्डर्ड की शुद्धि बनी रहती है। अगर वह कर्म तीव्रतर भाव से हो तो आगन्तुक मल को हटाकर चित्त को हायर स्टैण्डर्ड शुद्धि प्राप्त करा सकता है। जैसे ग्यारह आने होगा, इसी प्रकार सोलह आने के आसपास शुद्धि होने पर ज्ञान का उदय होगा। तब पूर्ण शुद्धि होगी, पूर्णशुद्धि के बिना कुछ नहीं होता। कर्म के द्वारा पौने सोलह आने पवित्रता पाने पर ज्ञान आयेगा ही। विलम्ब का कारण नहीं है। इसके पहले भी आ सकता है—कृपा के कारण। उस वक्त ज्ञान ही शोधन करता है। जिसे कर्म करता, उसे जान करता है—बाद में अन्तिम क्षण में ज्ञान अपनी निजी मूर्ति धारण करता है।

जब शब्दब्रह्म आत्मप्रकाश करता है, जब मंत्रबीज या ज्ञानबीज वपन होता है तब वह कारण-देह में ही होता है। जिस प्रकृत-बीज से नरदेह का निर्माण हुआ है, वह मलिन है—उसमें अविद्या है, ओरिज़िनल सीन है। किन्तु इस बीज में मलिनता नहीं है, यह शुद्ध बीज है, अप्राकृत बीज है, महाकारण के बीज। इस बीज के जो दाता हैं, उन्हें पिता कहा जाता है—"अहं बीजप्रद: पिता।" यही गुरुतत्त्व का रहस्य है। बीज वपन की यह प्रक्रिया ही दीक्षा का पदवाच्य है। इसी का फल है, द्वितीय जन्म; Regeneration द्विजत्व की प्राप्ति। बाइबिल में है—Unless a man is Born Again आदि। उपनयन इसी का नाम है। यह केवल सामाजिक व्यापार नहीं है।

दीक्षा—चाहे ब्रह्म-दीक्षा हो या शक्ति-दीक्षा हो—चैतन्य या शुद्ध सत्त्व के अंश को लेकर करना पड़ता है। यही रजोबल है। बाद में उसी अंश का संचार करना पड़ता है—तम: के ऊपर। अर्थात् रज: का अवलम्बन न करने पर दीक्षा

नहीं दी जा सकती। क्योंकि तमः का विनाश नहीं किया जा सकेगा। चित्शक्ति की दीक्षा में चित्त के प्रभाव से, तीनों गुण अलग हो जाते हैं। अन्त में कुछ नहीं रहता। केवल चैतन्य ही रहता है। शुद्ध सत्त्व की दीक्षा से तमः हट जाता है। सत्त्वांश शुद्ध सत्त्व से आकृष्ट होकर जम जाता है। जब सब जम जाता है तब चित्त निर्मल, पर अटूट, चैतन्य को धारण करने में सक्षम होता है।

अन्तर्जगत् की दीक्षा या शक्ति-संचार के बिना अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं किया जा सकता। केवल इन्द्रियों के प्रत्याहार होने से नहीं होता। उसी प्रकार जिस मन के द्वारा अन्तर्जगत् का साक्षात् भाव होता है, उसे एकाग्र करने पर कारण-जगत् में प्रवेश हो जायगा, ऐसा नहीं होता। यदि कारण-जगत् की दीक्षा या संचार नहीं हुआ है, तो केवल इन्द्रियहीन मन को एकाग्र कर कारण में प्रवेश नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा किया गया तो केवल ज्योति का दर्शन होगा, इससे अधिक कुछ भी नहीं। किन्तु अगर कारण-दीक्षा होती है और बाद में अगर मन (इन्द्रिय शून्य) एकाग्र होता है तो तुरत उपलब्धि होगी। यही अपना भाव या स्वभाव है। यही जीव का स्वरूप है।

दीक्षा का स्वरूप-२

दीक्षा वस्तुतः आत्मसंस्कार का ही नामान्तर है। आणव, मायीय और कार्ममल अथवा पाशों से संसारी आत्मा आच्छन्न रहता है। इनके प्रभाव से उसका स्वभावसिद्ध पूर्णत्व प्रस्फुटित हो ही नहीं सकता। वास्तव में आत्मा पूर्ण और शिवस्वरूप होने पर भी आणवमल के कारण स्वरूपगत संकोच से अपने को अपूर्ण समझता है। स्वयं अपरिच्छिन्न होकर भी अपने को सभी तरह से परिच्छिन्न अनुभव करता है।[१]

यह परिच्छिन्नता अथवा आणवभाव प्राप्त होने के बाद उसमें शुभाशुभ वासनाओं का उद्भव होता है। इन सभी कारणों से विपाक रूप में जन्म (देह-सम्बन्ध), आयु (देह का स्थितिकाल) और भोग (सुख-दुःख का अनुभव) अनिवार्य होते हैं। यही कार्ममल है। यही कर्म से उत्पन्न कंचुकरूप आवरण है, कला, विद्या, राग, काल और नियति एवं इनकी समष्टिभूत माया। पुर्यष्टक तथा स्थूलभूतमय विभिन्न प्रकार के कारण, सूक्ष्म एवं स्थूलदेह इन सब देहों के आश्रयभूत विचित्र भुवन और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों के अनुभव के कारण मायीय मूलरूप में प्रसिद्ध है।[२] बद्ध आत्मा में इन तीन प्रकार के आवरण सदा ही रहते हैं। दीक्षा के द्वारा मलिन आत्मा का संस्कार होता है। इससे मल निवृत्ति तो होती ही है, निवृत्ति का संस्कार भी शान्त हो जाता है—

दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता॥

---

१. इसी का पारिभाषिक नाम 'अभिलाष' है। इसे भ्रमवश कुछ लोग रागतत्त्व समझ सकते हैं। किन्तु वास्तव में यह राग नहीं है। 'राग' कहने से विषयासक्ति समझ में आता है। जो अभिव्यक्त करता है—'मुझे कुछ चाहिए।' यह राग सम्बन्ध के कारण ही पुरुष भोक्ता के रूप में बन जाता है। किन्तु 'अभिलाष' से इस तरह का भाव प्रकट नहीं होता। यह केवल अपूर्णता का बोधमात्र एवं यही अन्यान्य मलों का भित्तिस्वरूप है।

२. स्वरूप में शरीर, भुवन, भाव और भूत जो कुछ प्रतिभात होता है, सभी मायीय मल के अन्तर्गत है। अपने स्वरूप से भिन्न रूप में किसी पदार्थ के भान को माया ही समझना चाहिए। कला से पंचमहाभूत तक सभी तत्त्व ही देहस्थित मायीय पाशरूप है। यह पाश शरीर, इन्द्रिय, भुवन, भाव आदि को भोग सम्पादन के लिए आकार प्रदान करता है। कला से पृथिवी तक संसार है।

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशु-वासना का क्षय होता है, ऐसी दान और क्षपणयुक्त क्रिया का नाम दीक्षा है। यही दीक्षा का स्वरूप है। शक्तिपात के तीव्रतादि भेद एवं शिष्य के अधिकार-वैचित्र्य के अनुसार दीक्षा नाना प्रकार की होती है।

शक्तिपात के स्वरूप, लक्षण, प्रकार के भेद एवं चिह्न आदि के विवरण, शक्तिपात-रहस्य के बारे में पहले कहा जा चुका है। पाश का प्रशमन एवं शिवत्व की अभिव्यक्ति की योग्यता दीक्षा से सिद्ध होती है। जिस प्रकार भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार मंत्र की अचिंत्य-शक्ति के प्रभाव से प्रभावित पाश—सभी के पुनः प्ररोह होने की सम्भावना नहीं रहती।

जीव के मोक्षदाता ईश्वर हैं। पाशों का विच्छेद तथा सर्वविषयक ज्ञान-क्रिया का उद्भव अर्थात् सर्वज्ञत्व और कर्तृत्व का स्फुरण, यही मोक्ष का स्वरूप है। परमेश्वर अपनी क्रियाशक्तिस्वरूप दीक्षा द्वारा पशु—आत्मा को मुक्त करते हैं। किसी एक या दो पाशों के विच्छेद को मोक्ष नहीं कहा जाता। मोक्ष अवस्था में अज्ञता, अकर्तृत्व आदि नहीं रह सकते। ईश्वर की प्रेरणा बिना पशु—आत्मा स्वयं कुछ नहीं कर सकता। इसलिए उसकी अपनी क्रिया, ज्ञान आदि उपायों से मोक्ष-लाभ सम्भव नहीं है। प्रकृति प्रभृति पाश के ही अन्तर्गत है। इन सभी पदार्थों से मोक्ष का उदय हो सकता है, यह नहीं माना जा सकता। एकमात्र परमेश्वर ही जीव को मुक्तिदान दे सकते हैं, क्योंकि पूर्ण स्वातंत्र्य और किसी में नहीं है।

एक बात और है। सिद्धान्त में मोक्ष मोचनीय जीव की अवस्था विशेष का नाम है। यह मोचनकारी वस्तु की अवस्था विशेष नहीं है, क्योंकि इस मत में मोचनकारी वस्तु एकमात्र परमेश्वर हैं। परमेश्वर नित्यमुक्त हैं इसलिए किसी भी समय उसमें किसी भी धर्म का आधान नहीं हो सकता। कोई-कोई आचार्य सोचते हैं कि अज्ञानरूप मल से आच्छन्न पुरुष ही भ्रमवश संसार में भ्रमण कर रहा है एवं वह स्वयं अपने विरुद्ध भावना के अभ्यास के बल से विवेक ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान निवृत्ति हो जाने से सर्वज्ञत्व आदि स्वरूप धर्म प्राप्त कर लेता है। ईश्वर केवल अधिष्ठाता-मात्र है। इस मत के अनुसार मोक्ष का कर्तृत्व पुरुष को है। किन्तु अधिकांश आचार्य इस मत का समर्थन नहीं करते। उनका कहना है कि धर्माधर्म का कर्तृत्व पुरुष में है, यह सत्य है क्योंकि कला आदि के द्वारा किंचित् मात्रा में आत्मा का मल अपसारित हो जाने के कारण उनके सम्बन्ध से पुरुष के ज्ञान और क्रिया यत्किंचित् विकसित हो जाते हैं, किन्तु यह कभी इतना अधिक नहीं हो सकता कि उससे सर्वज्ञत्व आदि का स्फुरण हो सके। अतएव कला आदि के द्वारा पूर्ण मल-निवृत्ति असम्भव होने के कारण पुरुष का कर्तृत्वादि धर्म अविच्छिन्न रह जाता है।

कोई-कोई आचार्य पाशों का निवर्त्तन स्वभाव स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि पाश अपने स्वभाव से ही निवृत्त हो जाते हैं, पर यह ठीक नहीं लगता। कारण जीव अथवा पाशों में अपनी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति की कोई क्षमता नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा सर्वत्र आवश्यक है। इसलिए मोक्ष का कर्त्तृत्व ईश्वर में मानना चाहिए। यह जरूर सत्य है कि संसार-दशा कार्य एवं कारणरूपी पाश समूह नाना प्रकार से आत्मा में ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं, किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि मोक्ष के विषय में पाश का स्वयं कर्त्तृत्व हो ही नहीं सकता। मोक्ष अपरिच्छिन्न ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति है। जिस व्यंजक में जिस प्रकार की व्यंजना-शक्ति प्रतीत होती है, उसे अन्यत्र अज्ञात विषय में भी उसी प्रकार की व्यंजना-शक्ति से युक्त मानना होगा। अतएव कार्य तथा कारणरूप में प्रतीयमान अचेतन पाश में ईश्वर की प्रेरणा तथा स्वत:सिद्ध व्यंजनाशक्ति वर्तमान रहने पर भी शरीरादि में आत्मबोध के कारण वह ऐसे ही ज्ञान और क्रिया को अभिव्यक्त करेगा जो अपने आवरणात्मक आकार सहित सम्बन्ध स्त्री आदि विषयों के अनुराग से युक्त हो किसी समय में किसी स्थल में और किसी विषय में राग-द्वेषादि के विरुद्ध भावों के द्वारा द्वन्द्वयुक्त एवं शरीरादि नाश के साथ-साथ नाशशील, पूर्णज्ञान क्रिया का नाम मोक्ष है। इसीलिए पाश द्वारा उसका नहीं हो सकता। दीप घर को प्रकाशित करता है, इसलिए वह ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर देगा, यह नहीं कहा जा सकता। सिद्ध पुरुषों की ज्ञान-क्रियाशक्ति परमेश्वर की तरह सभी पाशों को नष्ट कर देती है, पशुओं की तरह वह पाश के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली नहीं है एवं शरीरादि में आत्मबोध और अनुरागादि युक्त भी नहीं है।

द्वैत आगम मत

द्वैत आगम मत में आणवमल अज्ञान नहीं है। किन्तु अज्ञान का हेतुभूत द्रव्य विशेष है। यह आत्मा के अनादि आवरण का कारण है। जैसे आँखों की जाली होती है, आणवमल उसी प्रकार है। द्रव्य होने के कारण यह ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं हो सकता। कारण ज्ञान इसका विरोधी नहीं है। यह दीक्षारूप क्रिया के द्वारा ही निवृत्त होता है। मल की निवृत्ति से उसका कार्य अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। इस मत से अज्ञान दो प्रकार का है—

(क) प्रथम अज्ञान बुद्धिगत अविवेक है। पहले से सादृश्य का अनुभव रहने पर इस प्रकार का अज्ञान उत्पन्न हो सकता है, न रहने पर नहीं—रस्सी से सर्प होने का भ्रम इसका उदाहरण है। इस प्रकार का अज्ञान 'यह सर्प नहीं, किन्तु रज्जु है' इस प्रकार का ज्ञान ही विवेक ज्ञान का स्वरूप है।

(ख) द्वितीय अज्ञान विकल्प ज्ञान है। इस प्रकार का अज्ञान काच, कामल आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। जैसे द्विचन्द्रज्ञान, पीतशंखज्ञान आदि इसके उदाहरण हैं। इसकी निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती, कारण स्वरूप द्रव्यों की निवृत्ति न होने तक इस प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती।

द्वैत आगम मत में आत्मा का अज्ञान विकल्पात्मक है, यह द्रव्यविशेष से उत्पन्न होता है। यह बुद्धिगत अविवेक-मात्र नहीं है। इस द्रव्य का नाम मल है। इसका विशेष विवरण आगमशास्त्र के विभिन्न स्थानों में देखा जाता है। द्वैत आगमशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर दीक्षा व्यापार द्वारा इस मलरूपी आवरण को निवृत्त कर देते हैं। इसीलिए मोक्ष का कर्त्ता आत्मा नहीं, ईश्वर है। 'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवंधाम नयत्यपि' अर्थात् दीक्षा ही मुक्त करती है और ऊपर की ओर शिवधाम की ओर ले जाती है।

ज्ञान और क्रिया मूलतः अभिन्न हैं। वास्तव में भगवान् की शक्ति एक और अखण्डित है। यह अभिन्न ज्ञान क्रियात्मक है, अर्थात् एक ही साथ ज्ञान-क्रिया दोनों है एवं दोनों में कोई भेद नहीं है। अगर ज्ञान से क्रिया भिन्न होती तो जैसे ईश्वर में माया का समवाय नहीं माना जाता, वैसे ही इसके साथ सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नहीं होता। फलतः ईश्वर को क्रियाशक्ति के अभाववश अकर्त्ता ही माना जाता। इस प्रकार कोई कर्त्ता न रहने के कारण विश्व रचना का किसी प्रकार का न्यायसंगत उपादान न होता। सच बात तो यह है कि ज्ञान और क्रिया का भेद अकल्पित है। क्रियाशक्ति प्रयत्नरूप में एक होने पर भी व्यापार की भिन्नता के कारण वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री, तीन प्रकार की स्वीकार की जाती है। जगत् की स्थिति एवं संरक्षणात्मक व्यापार-रोध एवं आवरणस्वरूप होने के कारण यह वामाशक्ति के कार्य हैं, संहार ज्येष्ठा शक्ति का कार्य है एवं पाशक्षय अथवा अनुग्रह रौद्री नामक क्रियाशक्ति का कार्य है।

अनुग्रह की प्रवृत्ति किस प्रकार की होती है, यही मुख्य प्रश्न है। सिद्धान्त की बात यह है कि मल अथवा वामाशक्ति का आवरणात्मक अधिकार जब समाप्त होता है एवं अनुग्रह की प्रवृत्ति होती है तब आत्मा में एक अनिर्वचनीय भाव का उदय होता है, उस वक्त आत्मा कैवल्याभिमुखी हो जाती है। इसीलिए सूक्ष्म स्वायम्भुव तंत्र में लिखा है—"क्षीणे तस्मिन् यियासा स्यात्परं निःश्रेयसं प्रति"। इस भाव का उदय होने के साथ-साथ परमेश्वर पशु आत्मा का ज्ञानगत और क्रियागत आवरण छिन्न कर देते हैं। वे सर्वदा जगत् के उद्धार-कार्य में लगे हुए हैं। इसीलिए आत्मा की शुभ इच्छा उदय होने के साथ-साथ उनकी कृपा कार्य करने लगती है। पशु आत्मा भी ज्ञान और क्रिया दोनों ही अनन्त हैं, किन्तु अनन्त होने पर भी वह मल द्वारा आच्छन्न रहता है। मल के परिपक्व होने पर उक्त

आच्छादन अपसारित हो जाता है तथा साथ ही साथ ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति होती है—यही है अद्वैत आगम मत।

अद्वैतवादी तंत्र मत से अज्ञान एवं ज्ञान दोनों ही पौरुष तथा बौद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। पौरुषज्ञान में किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता। कृत्रिम अहंकारादि विकल्प उसमें रह नहीं सकता—वह पूर्णाहन्तामय बोधस्वरूप है। जितने दिनों तक परमेश्वर के साथ पूर्ण रूप से तादात्म्य-लाभ नहीं होता, उतने दिनों तक उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। तादात्म्य-लाभ के पहले सभी बन्धनों से निवृत्त होना आवश्यक है। पौरुष अज्ञानरूपी आणवमल एवं कार्म तथा मायीय मल जब तक क्षीण न हो तब तक बन्धन दूर नहीं होता। दीक्षा के प्रभाव से पौरुष अज्ञान अथवा आणवमल निवृत्त जरूर होता है, किन्तु वर्तमान देह का आरम्भक कर्ममल रह जाता है इसलिए पौरुषज्ञान का उदय नहीं हो सकता। इस मल का नामान्तर है—प्रारब्ध कर्म। इसके कट जाने पर देहपात होता है। उस समय पौरुषज्ञान आत्मसाक्षात्कार रूप में उदय होता है। तब जीव शिवरूप में प्रतिष्ठित होता है।

शक्तिपात की तीव्रता के अनुसार दीक्षा क्रम भिन्न-भिन्न होता है जब शक्तिपात अधिक तीव्र होता है तब जो दीक्षा होती है, वह अनुपाय क्रम की दीक्षा है। इसका शाम्भव, शक्ति और आणव उपायों का सम्बन्ध नहीं रहता। इन अनुपाय दीक्षा के प्रभाव से क्षणमात्र में पूर्णत्व-प्राप्ति हो सकती है। यह है—अत्यधिक मात्रा में शक्तिपात का फल। जब शक्तिपात अपेक्षाकृत कम मात्रा में होता है तब क्रमशः शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा एवं आणवी दीक्षा की सम्भावना रहती है। दीक्षा के बिना मुक्ति की सम्भावना नहीं रहती, यह सत्य है, किन्तु कोई यह न सोचे कि सर्वत्र बाह्य क्रिया आवश्यक है। आत्म संस्कार रूप आन्तरदीक्षा की सर्वत्र आवश्यकता है। किन्तु बाह्य क्रिया सर्वत्र स्वीकृत नहीं है। अद्वैत आगमशास्त्र से जो बौद्धज्ञान उदय होता है, उसके प्रभाव से बौद्ध अज्ञान एवं उसके कार्य नष्ट हो जाते हैं और इससे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। दीक्षादि से बौद्ध-अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इसी से दीक्षा होने पर भी विकल्प का उदय होना असम्भव नहीं है। बौद्ध-ज्ञान उदय होने पर विकल्पों का उन्मूलन होता है और सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु जिस चित्त में विकल्प रह जाता है, उसकी मुक्ति देह के रहते हुए हो नहीं सकती। देह के कट जाने पर उसे शिवत्व-प्राप्ति होती है। विकल्पशून्य चित्त की सद्योमुक्ति को जीवन्मुक्ति कहा जाता है। विकल्प निवृत्त होने के बाद देह के रहने पर भी मुक्ति में कोई बाधा नहीं रहती। इसलिए दीक्षा-प्राप्ति के पूर्णत्वलाभ तक अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार है—

१. दीक्षा।

२. पौरुष अज्ञान का ध्वंस।

३. अद्वय आगमशास्त्र के श्रवण में अधिकार और उनके श्रवणादि साधन।

४. बौद्ध ज्ञान का उदय।

५. बौद्ध-अज्ञान की निवृत्ति।

६. जीवन्मुक्ति।

७. भोगादि के द्वारा प्रारब्ध नाश।

८. देह त्याग के पश्चात् पौरुष ज्ञान का उदय।

९. पूर्णत्व अथवा परमेश्वर की प्राप्ति।

दीक्षा और गुरु के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण

शक्तिपात पर लक्ष्य करके श्रीगुरु दीक्षा देते हैं। यहाँ उसी दीक्षा-रहस्य को भेद करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

वर्तमान समय में जो लोग अध्यात्म तत्त्व का अध्ययन करते हैं, इनमें भी सभी दीक्षा या गुरुतत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा शायद ही बनाते हैं। किसी के मत से दीक्षा और गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु कोई-कोई यह सोचते हैं कि साधना के क्षेत्र में दीक्षा की और पथप्रदर्शक के रूप में गुरु की आवश्यकता अवश्य है। दीक्षा और गुरुतत्त्व के बारे में स्पष्ट धारणा रहने पर इस तरह के भिन्न-भिन्न मतों के समन्वय की प्रणाली जानी जा सकती है। जो लोग दीक्षा को अनावश्यक क्रिया समझते हैं, वे लोग निश्चय ही बाह्य अनुष्ठानात्मक-दीक्षा को देखकर अपनी राय देते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि इन्द्रियगोचर बाह्य व्यापार के बिना भी दीक्षा-कार्य सम्पन्न हो सकता है। गोकि किसी-किसी अवस्था में स्थूल प्रक्रिया अनिवार्य हो जाती है, यह स्वीकार्य है।

'गुरु' शब्द का वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट रूप से ज्ञात न रहने के कारण गुरु के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के विकल्पों का उदय होता है। अधिकार के अनुसार बाह्य गुरु की आवश्यकता होती है। किन्तु किसी-किसी क्षेत्र में बाह्य गुरु का आश्रय बिना लिए इष्टसिद्धि हो जाती है। बाह्यगुरु शब्द से तात्पर्य है—मानवगुरु, सिद्धगुरु अथवा दिव्यगुरु—इन तीन प्रकार के गुरुओं में कोई भी एक महापुरुष! साधना की लौकिक-प्रणाली में साधारणतया मानव को ही बाह्यगुरु के रूप में ग्रहण किया जाता है। किसी-किसी का विश्वास है कि भगवान् के साथ जीव का विश्वास और भक्तिमूलक साक्षात् सम्बन्ध है—इस विषय में कोई मध्यस्थ नहीं हो सकता। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न और दयालु हैं। उनके साथ साक्षात्‌रूप से युक्त होने के लिए कोई प्रतिबन्धक रह नहीं सकता। सरल हृदय से आवाहन कर सकने पर उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, कम-से-कम प्राप्ति के स्थिर मार्ग में कदम रखा जा सकता है। इस प्रकार के अनेक विकल्प हैं। इनमें से प्रत्येक के समाधान का प्रयत्न बिना किये दीक्षा और गुरु-तत्त्व के बारे में प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों की आलोचना संक्षेप में करना उचित समझता हूँ। इससे निगूढ़ विषय के रहस्य का उन्मोचन हो जायगा।

भगवान् का जीवोद्धार कार्यक्रम

श्री भगवान् ही गुरु हैं। वे जीवों के उद्धारकर्ता हैं। वे जीव को मायापंक से उठाकर परमपद में स्थापित करने में समर्थ हैं। यह सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं है। इसीलिए सर्वत्र उन्हें गुरु-रूप में वर्णन किया जाता है।[१] योगभाष्य में लिखा है—"तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषान् उद्धरिष्यामीति"—अर्थात् उसका अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी कल्पप्रलय और महाप्रलय में ज्ञान एवं धर्म के उपदेश द्वारा जीवमात्र का उद्धार करना ही उनका एकमात्र प्रयोजन है। यही उनकी कृपा है। जीव अनुग्रहयोग्य होने पर ही उनका अनुग्रह प्राप्त करता है, यह सत्य है। इस विषय में कोई काल निविम नहीं है।

काल के भेद के अनुसार जीवोद्धार प्रणाली में वैचित्र्य होता है। प्रलयकाल में समस्त कार्यवर्ग परमकारण में लीन हो जाता है। उस वक्त जीव का देह एवं इन्द्रियादि कुछ भी नहीं रहता, किन्तु इस समय में भी प्रयोजनानुरूप मलपाक हो जाने पर अनुग्रह प्राप्ति में विघ्न नहीं आता। सृष्टि के समय भी इसी प्रकार होता है। किन्तु दोनों के समय में किसी-किसी अंश में परस्पर पार्थक्य रहता है। जिन जीवों का कर्म क्षय नहीं हुआ है, वे प्रलयाकल अणु रूप में प्रलय-समय में माया के गर्भ में लीन हो जाते हैं और जिनके सब कर्मों का क्षय हो गया है, वे माया अतिक्रम करके विज्ञानाकल अणुरूप में माया और महामाया के अन्तराल में वर्तमान रहते हैं। प्रलय-समय में जो अनुग्रह या दीक्षा होती है, उसके प्रभाव से जीव साक्षात् शिवत्व प्राप्त करता है। उस समय अशुद्ध सृष्टि न रहने के कारण उसके ऊपर अधिकार की उपयोगिता नहीं रहती अर्थात् जगत्-व्यापार उस वक्त नहीं रहता। शास्त्र में इसे निरधिकार मुक्ति कहा गया है। आधिकारिक पद प्राप्ति प्रलयकालीन अनुग्रह से नहीं होती, किन्तु सृष्टि और संहारकाल में निरधिकार मुक्ति मिल सकती है एवं मलपाक की विलक्षणता के कारण ऐश्वर्य अथवा साधिकार मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[२] इनमें जो संहारकाल में साधिकार अनुग्रह प्राप्त करते हैं, वे लोग रुद्राणु-अवस्था प्राप्त करते हैं। ऐसी सभी आत्माएँ आगामी

१. पातंजल योगसूत्रों में ईश्वर को पूर्व गुरुओं के भी गुरुरूप में वर्णन किया गया है। सृष्टि के आदिगुरु प्रत्येक सृष्टि में भिन्न-भिन्न होते हैं इन्हें सिद्धपुरुष एवं कार्येश्वर कहा जाता है। किन्तु परमेश्वर काल के द्वारा अविच्छिन्न नहीं, नित्यसिद्ध हैं। वे कार्येश्वरवर्ग के ईश्वरस्वरूप हैं। वे अनादि गुरुतत्त्व हैं।

२. सृष्टि अथवा संहारकाल में भी शिवत्व-लाभ की सम्भावना रहती है, किन्तु अत्यन्त कम। इसका कारण यह है कि मलपाक और परमेश्वर का अनुग्रह—इनमें से किसी पर काल का नियंत्रण नहीं रहता।

सृष्टि में सृष्टि का अधिकार प्राप्त करते हैं। जो लोग सृष्टि के समय में सर्वज्ञान क्रिया की अभिव्यक्ति रूप अनुग्रह प्राप्त करते हैं, वे उसके फलस्वरूप आधिकारिक पद प्राप्त करते हैं। ये परमेश्वर, मंत्र अपर परमेश्वर आदि पद पर प्रतिष्ठित होते हैं।[१] ये सब मंत्रेश्वर मायिक जगत् के विभिन्न विभागों के प्रधान शासक और व्यवस्थापक के रूप में नियुक्त होते हैं। जो परमंत्रेश्वर हैं, वे मायातीत महामाया राज्य में ईश्वरतत्त्व का आश्रय लेकर अपने-अपने भुवन में विराजते हैं। परमंत्रेश्वर कुल आठ हैं—इनमें अनन्त ही प्रधान है।

इनमें से प्रत्येक का देह, भोग, विषय एवं भुवन आदि विशुद्ध वैन्दव उपादनों से बना है। इनमें से कोई भी माया के स्पर्श से कलंकित नहीं है। इसके बाद अर्थात् मंत्रेश्वर पद की प्रतिष्ठा के बाद परमेश्वर का सात करोड़ विज्ञान-कल अणु को साक्षात् रूप से सर्वज्ञत्व आदि शक्ति के प्रभाव से अभिव्यंजना के द्वारा अनुग्रह करके मंत्रपद में स्थापित करते हैं। अपर मंत्रेश्वर गायागर्भ के अधिकारी हैं। इन लोगों का देह एकसाथ मायिक और वैन्दव दोनों ही है। इनके भी अपने-अपने भुवन, देह भोग्य विषयादि विभिन्न तत्त्वों का आश्रय करके विद्यमान हैं।

यह जो सृष्टि, संहार और प्रलयकाल में भगवान् के अनुग्रह की बातें कही गयी हैं, इसे भगवान् का अनुग्रह समझना चाहिए। किसी पुरुष की देह में अधिष्ठित होकर यह अनुग्रह नहीं किया जाता। संहार-काल और प्रलयकाल में पार्थक्य है। जब तक कार्य कारण में लीन होता रहता है तब तक के इस समय को अर्थात् जब तक कार्य सम्पूर्ण रूप से लीन न हो जाय, उस समय को संहारकाल कहते हैं। कार्य के लीन हो जाने के बाद नवीन सृष्टि के प्रारम्भकाल तक के समय को प्रलयकाल कहा जाता है। तांत्रिक परिभाषा में इस साक्षात् अनुग्रह को निरधिकरण अनुग्रह कहते हैं, किन्तु स्थितिकाल में परमेश्वर साधारणतया आचार्य या गुरु की देह को साक्षात् रूप से अथवा परम्परा के क्रम से आश्रय करके

---

१. प्रलयाकल जीव परमेश्वर का साधिकार अनुग्रह प्राप्त कर लेने पर 'मायागर्भाधिकारी' नाम से परिचित होता है। यही अपरमंत्रेश्वर का पद है। इन सभी जीवों का सम्यक्‌रूप से कर्मक्षय हो जाने के कारण माया और पुरुषों में विवेकज्ञान नहीं रहता। इसीलिए ये प्रलयकाल में मायागर्भ में लीन रहते हैं एवं अभिनय सृष्टि हो जाने पर पूर्ववत् मायिक देह प्राप्त करते हैं। यहाँ स्मरण रखना होगा कि इन्होंने परमेश्वर का साधिकार अनुग्रह प्राप्त किया है, इसलिए इनको वैन्दव देह की प्राप्ति हो जाती है। विज्ञानकल जीव साधिकार अनुग्रह के कारण मलपाक के तारतम्य के अनुसार परमंत्रेश्वर अथवा मंत्रपद पर प्रतिष्ठित होते हैं। इनका मायिक देह नहीं रहता, केवल वैन्दवदेह रहता है। अनुग्रह-प्राप्ति के पूर्व ये माया—पुरुष-विवेक ज्ञान के कारण विज्ञान-कैवल्य अवस्था में, माया के ऊपर विद्यमान थे। इसीलिए विन्दु के क्षुब्ध होने से विशुद्ध अध्वा की सृष्टि होती है तब उस समय सर्वप्रथम इन्हें विशुद्धदेह और भुवनादि प्राप्त होते हैं।

देहेन्द्रियादि कला विशिष्ट सभी जीवों पर अनुग्रह करते हैं। जो जीव निरन्तर चिन्ता करते-करते शुद्ध चिद्भाव प्राप्त हो गये हैं, उनके ऊपर ही इस प्रकार का अनुग्रह होता है। पर यह स्मरण रखना होगा कि पूर्ण रूप से मलपाक हो जाने के बाद, स्थितिकाल में कभी-कभी किसी-किसी विरल जीवात्मा पर निरधिकरण का अनुग्रह होता है। साधिकरण अनुग्रह के प्रभाव से शिवत्व-लाभ हो सकता है अथवा कोई अधिकारिक पद मिल सकता है। ये सब विभिन्न पद-प्राप्तियाँ शक्तिपात के तीव्रादि वैचित्र्य से होती हैं। ये सभी पद स्थूल दृष्टि से चार श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(क) पंचाष्टक प्रभृति रुद्रों का पद (रुद्रपद)।
(ख) शतकोटि मंत्र का पद (मंत्रपद)।
(ग) अपर मंत्रेश्वरवर्ग का पद (पतिपद)।

'पतिपद' अनन्तादि पद से भिन्न है। स्मरण रखना होगा कि अनन्तादि पद प्राप्त होने पर माया और कर्म के अभाव के कारण अधोगति या पतन नहीं हो सकता।

रौद्रागम में है—

भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्रीनिकायैरूपेताः।
स्रस्तोत्कण्ठाः शिवपदपरैश्वर्यभाजो भवन्ति॥

अर्थात् ये अनन्तादि पद जिन्हें प्राप्त होता है, वे दीर्घकाल तक देवांगनाओं के साथ सभी भोगों का उपभोग कर आकांक्षाशून्य होकर शिवपद में स्थित होते हैं और परम ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं।

(घ) ईश्वर (अनन्त) सदाशिव और शान्तस्वरूप ईशान का पद (ईशानपद)। इन सब पदों की प्राप्ति सालोक्यादि पद की प्राप्ति समझनी चाहिए।

तांत्रिक कहते हैं कि आगम प्रतिपादित ज्ञान और योग छोड़कर जो लोग अन्य प्रकार के ज्ञान या योगमार्ग का अवलम्बन करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे सत्त्वगुण के विशुद्धि-निबन्धन से मध्यस्थ अवस्था प्राप्त करते हैं। इनमें दो विरुद्ध कर्मों की अभिव्यक्ति समान हो जाती है। फलस्वरूप उपकारी के प्रति प्रसन्नता एवं अपकारी के प्रति क्रोध साम्यरूप अभिन्न वृत्ति रूप में परिणत होती है। इस अवस्था का नाम 'माध्यस्थ' है। उन लोगों की परिभाषा के अनुसार इसका नाम जीवन्मुक्ति है।[१]

---

१. न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति।
य: सम: सर्वभूतेषु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

अर्थात् जो उपकार से प्रसन्न नहीं होते और अपकार से कुपित नहीं होते एवं समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखते हैं, उन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है। किन्तु आगमसम्मत जीवन्मुक्ति इससे पृथक् है।

साधिकार मुक्ति और उसका भेद

तंत्र प्रतिपादित साधिकार मुक्ति नाना प्रकार की है। इंन सब साधिकार मुक्ति में दीक्षा आदि उपाय में वैचित्र्य है एवं तत्त्वपद प्राप्ति के लिए प्रीति, श्रद्धा आदि का तारतम्य है। अतएव उपाय और आदर के वैलक्षण्य से योग्यता तीन प्रकार की होने के कारण उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट इन तीन प्रकार के साधिकार पदों की प्राप्ति होती है। इन तीन पदों के नाम—मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर और मायिक अधिकारी हैं। इनमें द्वितीय और तृतीय पदों में आशंका की निवृत्ति नहीं होती, कारण ये सभी पद चरम अवस्था अथवा परासिद्धि के द्योतक नहीं हैं। इसलिए इन सभी पदों में आत्मा निश्चिन्त होकर विश्राम नहीं कर पाती। इसके अलावा इस अवस्था में निज पद से स्खलित होने से पतन की आशंका बनी रहती है। तत् तत् भुवन की प्राप्ति रूप मोक्ष वास्तविक मोक्ष नहीं है, यह मोक्ष का आभास-मात्र है। यह अवस्था महाप्रलय तक रह सकती है। नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में भुक्तावशिष्ट कर्म के प्रभाव से अधोगति की आशंका रहती है, क्योंकि कर्मफल भोग माया के अन्तर्भुक्त संसार मण्डल में ही होता है। किन्तु इन भुवनों में रहते हुए मुक्ति हो सकती है। मल परिपक्व होने पर जब दीक्षा मिलती है तब मुक्त होने के मार्ग में अधिकार मिलता है। प्रत्येक भुवन में दीक्षा के द्वारा बद्ध जीव को मुक्त करने के लिए योग्यतासम्पन्न सद्‌गुरु मौजूद रहते हैं। इसीलिए स्वायम्भुव आगमे में कहा गया है—'भुवने भुवने गुरवः प्रतिवसन्ति।' इन पदों में मंत्रमहेश्वर पद श्रेष्ठ है। इस पद का अधिकार समाप्त होने पर अपवर्ग प्राप्त होता है। तब पतन की कोई आशंका नहीं रहती।

प्रलयकाल में जब भगवान् जीव का उद्धार करने के लिए उसे दीक्षा देते हैं तब वे जीवों की पूर्वोक्त तीन प्रकार की योग्यताओं की ओर ध्यान नहीं देते। ये विभिन्न प्रकार की योग्यताएँ अधिकार से सम्बन्ध रखती हैं। प्रलयकाल में अधिकार का कोई उपयोग न रहने के कारण उस काल में अनुग्रह करते समय वे इसका विचार नहीं करते। किन्तु यह सत्य है कि स्थितिकाल का जो अनुग्रह है, वह शिष्य की योग्यता पर निर्भर रहता है।

परमंत्रेश्वर एवं मंत्रों की मुक्ति को अपराधमुक्ति कहा जाता है। ये परमेश्वर की वामादि तीन शक्तियों के कार्य एवं भगवद्-आज्ञा के अधीन हैं। इसीलिए ये सब शक्तितत्त्व के नीचे रहते हैं।[१] ये सब उत्पन्न होकर अपने-अपने अधिकार के

१. यह अधोवर्त्तिता देशकृत नहीं है। क्योंकि ये सभी आत्मा समरूप से व्यापक और विभु हैं। किन्तु क्रियाशक्ति के विषय में तारतम्य रहने के कारण ऊर्ध्व एवं अधः ऐसा निर्देश दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभुत्व समान रहने पर भी क्रियाशक्ति के विकास में न्यूनता रहने से अधोवर्ती हो जाता है।

मामले में भगवत् प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं। ये दोनों कलादि कार्य कारणहीन तथा अधिकार विशिष्ट हैं। इसलिए व्यापक होने पर भी इन्हें माया के ऊपर माना जाता है। इनमें भी परमंत्रेश्वर मंत्र वर्ग का प्रेरक होने के कारण ऊर्ध्वस्थित एवं उनके द्वारा प्रेरित होते हैं, इसलिए सभी मंत्र नीचे हैं। इन दोनों पर अनुग्रह करने के बाद भगवान् इन सब मंत्रेश्वरों में अधिष्ठित होकर माया से कलादि तत्त्व और भुवनों की रचना करते हैं तथा उन कलाओं के द्वारा कर्म के अनुसार योजना करते हैं। सबके अन्त में परिपक्व मल जीवों को मायागर्भाधिकारी या अपरमंत्रेश्वर पद पर स्थापित करते हैं। भगवान् का यह अनुग्रह-व्यापार परम्परा होता है, साक्षात् रूप से नहीं।

●

समय-दीक्षा

तांत्रिकों ने विभिन्न दीक्षा के प्रकार भेद के बारे में जो कुछ लिखा है, उसके सारांश की आलोचना करने पर मालूम होता है कि विभिन्न दीक्षाओं में एक निर्दिष्ट क्रम है। शिष्य का योग्यतामूलक अधिकार भेद ही इस क्रम का मुख्य कारण है। किन्तु यह क्रम स्वाभाविक होने के कारण अपरिहार्य होने पर भी अनेक स्थानों में यथावत् अनुसृत नहीं होता। ब्रह्मचर्य आदि आश्रम जैसे क्रमबद्ध होने पर भी तीव्र वैराग्य होने पर भी मध्यवर्ती एक या दो आश्रम लंघनपूर्वक किसी आश्रम से संन्यास ग्रहण करने का अधिकार होता है, ठीक उसी प्रकार दीक्षा-क्रम के बारे में कहा जा सकता है।

सभी प्रकार की दीक्षाओं में पहले समय-दीक्षा ही विचारणीय है, इस दीक्षा में सभी पशु आत्माओं का अधिकार है। इसमें काल और आश्रमादि का नियंत्रण नहीं है। आत्मा का अनादि मल किंचिन्मात्र पक्व होने से जब भगवान् की कृपाशक्ति अत्यन्त मन्दरूप से जीव में अवतीर्ण होने लगती है, तभी यह दीक्षा हो सकती है। गुरु द्वारा शिष्य के मस्तक पर शिव हस्त का अर्पण ही समय-दीक्षा का स्वरूप है। इस दीक्षा के बाद गुरु-शुश्रूषा और विभिन्न देवपूजा में अधिकार होता है। इसके अलावा भगवान् के प्रति भक्ति का उन्मेष होता है। इस दीक्षा का प्रधान फल प्राक्तन (भूतपूर्व) कर्म-समूह का परिपाक है। कर्म परिपक्व हुए बिना नष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि कालरूपी अग्नि के द्वारा निरन्तर कर्म-समूह पक्व हो रहे हैं, तद्यपि यह स्मरण रखना होगा कि कालधर्मक होने के कारण कालकृत पाक भी क्रमिक भोग की ओर चित्त की उन्मुखता-मात्र है। क्रमिक भोग के द्वारा कर्म का क्षय अवश्य होता है, यह ठीक है, पर क्रमशः होता है, एकसाथ नहीं होता, हो नहीं सकता। इसके अलावा उसके द्वारा कर्म किसी भी समय समाप्त हो नहीं सकता, क्योंकि कर्म का मूल नष्ट न होने के कारण नये कर्म का संचय होता रहता है। अनादि काल से असंख्य कर्म उपचित हो रहे हैं—उन सबको एक-एक करके क्रमशः नष्ट नहीं किया जा सकता। इसके लिए दीक्षा आवश्यक है, क्योंकि दीक्षा समष्टि रूप में कर्म-बन्धन को विच्छिन्न करने में समर्थ है। सबके अन्त में कभी न कभी कर्म एकसाथ नष्ट हो सकते हैं। उसे पूर्णतम ज्ञानोदय कहा जाता है। अपूर्ण ज्ञानोदय काल में संचित कर्मराशि नष्ट होने पर भी देहारम्भक कर्म बाकी रह जाते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर समझ में जायगा कि कालशक्ति भी भगवान् की

क्रियाशक्ति का रूपान्तर है। काल रुद्र विशेष हैं। कालाग्नि रुद्र होने पर के कारण कालशक्ति रौद्रीशक्ति है। दीक्षा भी रौद्री नाम्नी क्रियाशक्ति का व्यापार है। किन्तु इन दोनों में मात्रा और विकासादिगत परस्पर विशिष्टता है।

'समय' शब्द कहने से आगमशास्त्रीय मर्यादा का पालन समझना चाहिए। प्रथम या समय-दीक्षा प्राप्त होने पर शास्त्रों का अध्यापन, श्रवणादि और होम, जप, पूजन, ध्यानादि में योग्यता प्राप्त होती है। समयी की आत्मा चर्या और ध्यान से शुद्ध होती है। गुरूपदिष्ट शास्त्रोक्त आचार आदि के पालन को चर्या कहते हैं। ध्यान योगाभ्यास का नामान्तर है। इस दीक्षा के प्रभाव से पूर्णत्व लाभ नहीं होता और न मंत्राराधनं क्रम से भोग लाभ होता है। पर इससे ईश्वरपद प्राप्ति या अपरा मुक्ति लाभ हो सकती है तथा पुत्रकादि भावी पदों को लाभ करने की योग्यता हो जाती है। पाशशुद्धि ही ऐश्वय का कारण है—इस दीक्षा के द्वारा ईश्वर-सम्बन्ध होने पर वह हो सकती है। किन्तु यहाँ पाशशुद्धि पाशों की समूल निवृत्ति नहीं है, क्योंकि कला, तत्त्व और भुवन आदि छह अध्वा की शुद्धि और परतत्त्व की योजना जब तक ये दोनों व्यापार सिद्ध नहीं हो जाते तब तक सम्पूर्ण पाशों का अपगम नहीं होता और न पूर्णत्व प्राप्त होता है, उसके लिए सूक्ष्म विधान है। किन्तु समयी के लिए इस प्रकार का कोई विधान नहीं है, जरूरत भी नहीं होती। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि समयी की ईश्वराराधन योग्यता किस प्रकार उत्पन्न होती है? इसका उत्तर यों है—इस प्रकार की योग्यता प्राप्ति के लिए केवल अधिष्ठातृकारण वर्गों का विश्लेषण ही पर्याप्त है। वहीं तक समयी की सीमा है।

जात्युद्धार, द्विजत्वप्राप्ति और रुद्रांशतालाभ—इन तीनों व्यापारों के द्वारा समयी का आत्मसंस्कार होता है। पशु आत्मा प्रारब्ध भोग करने के लिए जो देह पाता है, उसी देह सम्बन्ध से जाति का उत्कर्ष होना ही जात्युद्धार कहलाता है। यह व्यापार यथाविधि सम्पन्न होने पर पूर्व जाति के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इससे यह प्रतीत होता है कि जात्युद्धार क्रिया के प्रभाव से देह के सूक्ष्मतम अवयव संस्थान में आमूल परिवर्त्तन होने लगता है। इसके बाद जो अनुष्ठान करना पड़ता है, उसका एकमात्र उद्देश्य द्विजत्व प्राप्त करना है। इन दोनों प्रक्रियाओं में जाग्रत् मंत्रशक्ति की उपयोगिता है। मंत्रशक्ति अलौकिक और अचिन्त्य है। प्रयोगकर्ता यदि योग्य हों तो उस शक्ति के द्वारा दुःसाध्य कार्य भी सुगमता के साथ सिद्ध कर सकते हैं। साधारणतया नियम यह है कि मंत्रशक्ति का प्रयोग देह पर करना उचित नहीं है। प्रारब्धजनित भोग की तरह उक्त निषेध का तात्पर्य समझना चाहिए। मंत्र में ऐसी सामर्थ्य है कि उसके प्रयोग से क्षण भर में प्राणों का वियोग होकर देह पात हो सकता है। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से अमुक्त प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए देहान्त के बाद अवस्थान्तर में आबद्ध रहना पड़ता है।

इससे मोक्षलाभ के लिए कालविलम्ब खूब अधिक होता है। शोषण, दाहन, आप्यायन और जात्युद्धार के लिए वर्तमान देह में भी मंत्र-प्रयोग की व्यवस्था है। उग्र मंत्रशक्ति के द्वारा देह का शोषण आदि कार्य होता है—इसी से अभिषेक की आवश्यकता होती है।

द्विजत्व लाभ के लिए मंत्र के द्वारा ही देह की योनि, बीज, आहार, देश तथा भाव की शुद्धि करनी पड़ती है। देह रजः और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है। रजोवीर्य शुद्ध न होने पर शुद्ध देह नहीं बन सकता है। गर्भाधान आदि का विज्ञान-रहस्य आजकल लोग नहीं जानते। स्त्री-पुरुषों के नैतिक संयम के अभाव एवं चित्त की चंचलता के कारण वर्तमान युग में विशुद्ध देह की उत्पत्ति असम्भव हो गयी है। इसलिए तंत्रशास्त्र का आदेश है कि मंत्रशक्ति द्वारा योनि एवं बीज का संशोधन कर लेना चाहिए। ऐसा करने पर देहगत अशुद्धि निवृत्त हो सकती है। श्रौत और स्मार्त्त प्रक्रिया से आहार निर्वाह करने पर आहार शुद्ध हो सकता है। किन्तु वर्तमान समय में यह भी ठीक से नहीं होता। इसलिए इस त्रुटि की पूर्ति के लिए मंत्र प्रयोग आवश्यक है। म्लेच्छादि के सम्बन्ध के कारण देश अशुद्ध होता है एवं असत्य, कुटिलादि दोषों के कारण भाव मलिन होते हैं। इसलिए मंत्र के द्वारा देश और भाव का शोधन करना आवश्यक है।

इस प्रकार शुद्धि का आधान होने पर मंत्र द्वारा शुद्ध विद्या में जन्म प्राप्त होने से अलौकिक द्विजत्व प्राप्ति होती है।[१] इसका नाम द्वितीय जन्म है।

द्विजत्व अलौकिक होने के कारण लौकिक द्विजों के लिए भी यही प्रक्रिया करणीय मानी गयी है।[२] इस दीक्षा में एक ही जाति की अभिव्यक्ति होती है। इसका नाम 'शिवमयी' या भैरवीय जाति है। इसके बाद अगर कोई पूर्व जाति के

---

१. गर्भाधानादि चालीस संस्कार मंत्रशक्ति द्वारा सिद्ध होते हैं। ये सभी संस्कार शुद्धविद्या में जन्म लेने के लिए सर्वथा उपयोगी हैं।

२. मंत्रशक्ति के प्रभाव से वर्तमान शरीर में दाह होता है तथा जात्युद्धार आदि होते हैं। कोई-कोई सोचते हैं कि इस प्रकार शुद्धतत्त्वमय देहान्तर का उत्पादन और द्विजत्वापादन अन्य जातियों में किया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि योगीगण अब भी मंत्रों के द्वारा अपनी एवं अन्य जातियों में परिवर्तन करते हैं। आगम मत से शिव, पुरुष और माया को छोड़कर और सब तत्त्व एवं जाति आदि अनित्य हैं। इसीलिए जात्युद्धार द्विजत्वापादन आदि मामले में किसी भी अंश में असंगति नहीं है। कोई-कोई सोचते हैं कि देह शूद्रत्वादि जाति नित्य होने के कारण नहीं है। इसलिए द्विजत्वापादन केवल द्विजों के लिए करणीय है, अन्य के लिए नहीं। इस मत के अनुसार यह वर्तमान विषयक है। वे लोग कहते हैं कि कर्मान्तर के कारण द्विजदेह प्राप्त होने पर अड़तालीस क्रियाओं से यह सिद्ध होता है। इसमें शूद्रादि का अधिकार नहीं है। क्षेमराज कहते हैं कि यह परमेश्वर आगम का मत नहीं है, क्योंकि यह क्रिया अलौकिक है एवं इसके साथ भावी देह का सम्बन्ध है। यहाँ शंका उत्पन्न हो सकती

साथ अपना सम्बन्ध व्यक्त करता है तो वह शास्त्र मतानुसार प्रायश्चित्त के योग्य होता है। द्विजत्व सिद्ध होने पर शिशु को उपवीत देने का नियम है। यह भी अलौकिक है। उपवीत ग्रहण करने का तात्पर्य हुआ आत्मा के सान्निध्य में मंत्र-सामर्थ्य द्वारा सम्बन्ध होना। तंत्रशास्त्र के अनुसार उपवीत अनन्त मंत्र और देवताओं के व्यापक शुद्ध विद्यारूप शक्तिसूत्र के प्रतिरूपक है। गर्भविधान से अन्येष्टि तक चालीस संस्कारों के बल से शुद्धविद्या में जन्म होने के पश्चात् सूक्ष्म विज्ञान अथवा भावना के द्वारा चैतन्य-संस्कार करना पड़ता है। इस प्रकार अड़तालीस संस्कारों के द्वारा पूर्ण द्विजत्व सिद्ध होता है।

इसके पश्चात् समयी का रुद्रांशापादन करना आवश्यक है। स्वयं रुद्रांश न होने पर शास्त्रार्थ ज्ञानपूर्वक रुद्र के ध्यान में एकाग्रता प्राप्त करना असम्भव है। इसके अलावा भविष्य में ईश्वर सम्बन्ध होना भी कठिन है। इस क्रिया को ठीक भाव से करने के लिए गुरु के लिए पहले प्रोक्षण और ताड़न करने की आवश्यकता है। इसके बाद गुरु स्वयं ऊर्ध्वमार्गीय रेचक क्रिया के द्वारा अपने शरीर से बाहर निकलकर शिष्य के शरीर में प्रवेश करेंगे और उसी मार्ग से शिष्य के हृदय तक पहुँचेंगे। वहाँ जाकर शिष्य के चैतन्य या पुर्यष्टक को शिथिल करेंगे। इसका नाम है विश्लेषण-क्रिया। इससे शरीर के साथ जीव का एक सूक्ष्म सूत्र या राशि-मात्र सम्बन्ध रह जाता है। इसके बाद पुर्यष्टक का छेदन करके अर्थात् उसे पृथक् कर उसके अवगुण्ठन को शुद्ध उपादानों के द्वारा आवृत्त करना पड़ता है। फिर सम्यक् रूप से आकर्षण करते हुए द्वादशान्त या मस्तक में स्थापन करना चाहिए। इसके बाद वहाँ से जीव को सम्पुटित करके संहारमुद्रा के द्वारा खींच लेना पड़ता है। इतना कार्य सम्पादन करते समय गुरु के साथ शिष्य के अभेदज्ञान की रक्षा करना आवश्यक है। इसके बाद ऊर्ध्वपूरक के द्वारा गुरु को अपने हृदय में वापस आ जाना चाहिए।

इस व्यापार में कुम्भक द्वारा स्वारस्य सम्पादन करके अर्थात् अपने साथ शिष्य का अभेदापादन कर पुनर्वार ऊर्ध्व उद्वेष्टन के क्रम से रेचन करना पड़ता है। रेचन के समय जीव उत्तरोत्तर छह देवताओं का त्याग करता है। इनके नाम और स्थान इस प्रकार हैं—

है—तब भुवन अध्वा में अड़तालीस संस्कारों के आधान द्वारा द्विजत्वापादन क्यों किया जाता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह शंका अमूलक है, क्योंकि उस क्रिया का उद्देश्य अलग है। वह पुत्रक की भोगशुद्धि के लिए है, समयी के लिए नहीं। वागीश्वरी में गर्भाधानादि द्वारा तत्-तत् तत्त्व में उद्भूत सम्पूर्ण भूतवर्ग अर्थात् चौदह प्रकार के प्राणियों का भोगशुद्धि करना आवश्यक है। द्विजभोगशुद्धि भी उसी के अन्तर्गत है। यह उसके लिए ही कर्त्तव्य है। समयी के लिए तत्त्वशोधन का आदेश नहीं है। इसीलिए समयी दीक्षा में उसका कोई स्थान नहीं है।

१. हृदय में ब्रह्मा
२. कण्ठ में विष्णु
३. तालू में रुद्र
४. भ्रूमध्य में ईश्वर
५. ललाट में सदाशिव
६. ब्रह्मरन्ध्र में शिव

देह के समान बाह्य जगत् में भी इन छह देवताओं का एक के बाद एक अधिष्ठान है। वास्तव में विश्व के निम्नतम प्रदेश से समस्त अध्वा ही इन छह देवताओं के द्वारा अधिष्ठित हैं। देवताओं के त्याग से ही शिष्य के लिए उक्त देवताओं के अधिष्ठित मार्ग से विश्लेषलाभ करने की योग्यता उत्पन्न होती है। स्वामी को पराभूत करने पर उनके वशवर्त्ती सभी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। उनके साथ अलग से युद्ध नहीं करना पड़ता। देवता-त्याग के बाद अर्थात् देह अथवा विश्व के अधिष्ठातृ कारणवर्ग से विश्लेष हो जाने पर ईश्वर पद की प्राप्ति के लिए ईश्वराराधना की योग्यता का अर्जन करना पड़ता है। भ्रूमध्य से जीव को लेकर सम्पुटित करना पड़ता है और संहारमुद्रा के द्वारा उसे उठाकर पुनः शिष्य के हृदय में स्थापित करना पड़ता है।

भोगदीक्षा : साधक दीक्षा

समयी दीक्षा के बाद पुत्रकादि अन्यान्य दीक्षाओं की व्यवस्था है। एतद्-व्यतीत पहले पुत्रकादि दीक्षा हो सकती है। इस समय दीक्षा में अध्वाशुद्धि आवश्यक है। किन्तु सम्पूर्ण पाशशुद्धि न होने पर वैसा नहीं हो सकता एवं परतत्त्वयोजना के बिना सभी पाशों का उन्मूलन असम्भव है। उसके कारण भोग या मोक्ष किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। समयीदीक्षा में पाशशुद्धि की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि दीक्षा के द्वारा ही कुछ अंशों में पाशशुद्धि हो जाती है।

फलार्थी शिष्य भोग या मोक्षभेद से भोगार्थी और मोक्षार्थी, यही दो प्रकार हैं। मोक्षार्थी या मुमुक्षु पुत्रक और आचार्यभेद से दो प्रकार के हैं, शिष्य की दीक्षा के पहले गुरु को यह देखना चाहिए कि स्व-प्रत्ययी है या गुरुप्रत्ययी। स्व-प्रत्ययी होने पर गुरु को उसकी वासना के अनुसार ही दीक्षा देनी चाहिए। गुरु-प्रत्ययी होने पर और गुरु पर निर्भर हो तो गुरु का कर्तव्य है कि पहले उसकी भोगदीक्षा की व्यवस्था न करके मोक्षदीक्षा का प्रबन्ध करे।

शिवधर्मिणी और लोकधर्मिणी दीक्षा

साधक दो प्रकार के हैं—शिवधर्मी और लोकधर्मी। इसलिए भोग या भूत

(भुक्ति) है—दीक्षा भी दो प्रकार की है—शिवधर्मिणी और लोकधर्मिणी। दोनों दीक्षाओं में भेद रहने पर भी दोनों में साधना है। इसीलिए दोनों दीक्षाओं को साधक-दीक्षा कहते हैं। शिवधर्मिणी दीक्षा के प्रभाव से योग्यता के अनुसार साधक को तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—मंत्रेश्वरपद प्राप्ति, मंत्रपद प्राप्ति और पिण्डसिद्धि या अवान्तर सिद्धि। प्रथम दो एक प्रकार से पारमेश्वरिक फल मानी जाती है। तृतीय है विभिन्न भोगभूतियों में आपेक्षिक अमृततत्त्व लाभ करके अभीष्ट सिद्धियों को प्राप्त करना। दीक्षा के प्रभाव से जीव जिस भोगभूमि में भोगास्वादन के लिए जाता है, वहाँ उसे जरामृत्युहीन स्थिर देह की प्राप्ति होती है। प्रलयकाल में उस भोगभूमि का नाश न होने तक वह देह नष्ट नहीं होता। अनेक अवांतर सिद्धियाँ भी इस तृतीय विभाग में हैं, जैसे खड्गसिद्धि, अञ्जनसिद्धि, पादुकासिद्धि आदि। शिवधर्मी साधक गृहस्थ हो सकता है, यति भी हो सकता है। इनकी अध्वशुद्धि शिवमंत्र से निष्पन्न होती है। ये सभी साधक मंत्राराधन-परायण होकर आराध्य मंत्र के आदेशानुसार कार्य करते हैं। ज्ञानवता, अभिषेक आदि इसी दीक्षा के फल हैं। इस मार्ग के साधक को समयाचार का पालन करना पड़ता है।

लोकधर्मिणी दीक्षा के प्रभाव से प्राक्तन या संचित और आगामी कर्मों के भीतर अशुभांश या दुष्कृतांश-मात्र नष्ट होता है और शुभांश अणिमादि सिद्धि के रूप में परिणत होता है, गोकि प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगना पड़ता है। भोग समाप्त होने के बाद प्रारब्धजात देह के पतित होने पर गुरु दीक्षित साधक को अणिमादि भोगने के लिए उसे ऊर्ध्वलोक में संचालित करते हैं। वहाँ का भोग समाप्त होने के बाद भी यदि भोग-वासना अतृप्त रहती है तो उसे वासना के अनुरूप भोग के लिए उसे ऊर्ध्वतर भुवनों में गुरु भेज देते हैं। इसी प्रकार शुभकर्म के भोग के पश्चात् वैराग्य का उदय होने पर उस स्थान से—अन्तिम भोगस्थान से—परमेश्वर के निष्कल स्वरूप में योजित करते हैं। यह योजना केवल निष्कल स्वरूप के साथ होगी, ऐसी बात नहीं है। नाना प्रकार के मायातीत विशुद्ध भुवन के अधीश्वरों के साथ भी सालोक्य से सायुज्य तक फल प्राप्ति के लिए हो सकती है। ये सभी अवस्थाएँ साधक के आध्यात्मिक उत्कर्ष के तारतम्य पर निर्भर हैं। कहा गया है—

लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्त्तरि।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकांक्षिणम्॥

अर्थात् लोकधर्मी साधक को गुरु अपने इष्ट भुवनेश्वर के स्वरूप से युक्त करके उसके धर्म से युक्त करते हैं। अथवा यदि वह मुक्तिकामी हो तो उसे शिव में आरोपित कर उनके धर्म से संयुक्त करते हैं। यही ऊर्ध्वगति और योजना क्रमशः साधक और गुरु के संकल्पानुसार होती हैं।

सबीज और निर्बीज दीक्षा

मुमुक्षु की दीक्षा सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाणदायिनी कुल तीन प्रकार की है। इनमें तीसरा दूसरे का प्रकार भेद-मात्र है। इसीलिए मुमुक्षु की दीक्षा वस्तुतः दो ही प्रकार की है। साधारणतया निर्बीज दीक्षा बालक, मूर्ख, वृद्ध, व्याधिग्रस्त के लिए है। अर्थात् जो लोग शास्त्र-विचार में कुशल नहीं हैं, उनके लिए निर्बीज दीक्षा का विधान है। उनके लिए समयाचार पालन करने की आवश्यकता नहीं होती। इस दीक्षा के प्रभाव से केवल गुरुभक्ति के फल से मुक्ति मिल जाती है।

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद् भक्तिमात्राद् गुरोः सदा।

(स्वच्छन्दतंत्र)

इसमें गुरुभक्ति-मात्र ही समय है, अन्य समय नहीं है।

सद्योनिर्वाणदीक्षा मुमूर्षु अवस्था में देनी चाहिए; क्योंकि यह दीक्षा अत्यन्त प्रदीप्त होने के कारण अतीतादि त्रिविध पाशों को नष्ट कर देती है। दीक्षा के साथ-साथ देहशुद्धि और देहपात के बाद परमपद की प्राप्ति होती है।

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेन परतत्त्वे नियोजयेत्॥

शिष्य अगर जरा और व्याधिग्रस्त हो तो गुरु उसे शरीर से उत्क्रमण कराकर परमतत्त्व में नियोजित करते हैं।

सबीज दीक्षा की व्यवस्था विद्वान् और कष्टसहिष्णु शिष्यों के लिए है। यह दीक्षा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को शास्त्रविहित आचार अच्छी तरह पालन करना पड़ता है। न करने से अपनी शिवमयी सत्ता से कुछ समय के लिए भ्रष्ट होकर विपदग्रस्त होना पड़ता है।

मुमुक्षु की सबीज एवं निर्बीज दोनों प्रकार की दीक्षा का एकमात्र प्रयोजन मोक्ष है। आचार्य की दीक्षा सबीज होती है। बुभुक्षु साधक दीक्षा भी सबीज होती है। सबीज दीक्षा होने पर अभिषेक हो सकता है। विद्वान् और कष्टसहिष्णु व्यक्ति को सबीज दीक्षा देकर आचार्य और साधक पद पर अभिषिक्त करना चाहिए। आचार्य मुमुक्षु, किन्तु साधक भोगार्थी है। अभिषेक के बिना भोग और मोक्ष में अधिकार नहीं होता। केवल सबीज दीक्षा ही परमेश्वर के साथ योजन कराती है। इसीलिए साधक और भोगार्थी का पहले शिव या परमेश्वर के निष्कल रूप के साथ योग होता है। इसके बाद भोगसिद्धि के लिए सदाशिव अर्थात् परमेश्वर के स-कल रूप में योग होता है। सर्वप्रथम निष्कलरूप के साथ योग का यह उद्देश्य है कि स-कल रूप सिद्धि बहुल होने पर भी यह निष्कलयोजन क्रिया के प्रभाव से

स-कल पद पर रहते समय सिद्धि या ऐश्वर्य भोग रहने पर भी भोग के अन्त में परमपद पाने में कोई बाधा नहीं आती।

शिवधर्मिणी दीक्षा में साधक के साधकत्व में अभिषेक होता है। विद्या दीक्षा के बाद यह अभिषेक होता है। शिवधर्मी साधक के शिवपद में योजन के बाद जो सदाशिवपदयोजनरूपा दीक्षा होती है, उसे विद्यादीक्षा कहते हैं। (बत्तीस वर्णोंवाला) सकल मंत्र ही विद्या है, उसके द्वारा विद्यादीक्षा होती है। सदाशिव पद विद्यात्मक है। यद्यपि सकल मंत्र द्वारा परमपद प्राप्ति हो सकती है तथापि वासना भेद के कारण उसे विद्यादीक्षा कहा जाता है। सदाशिव पद तक अणिमादि भोगदीक्षा ही भूतिदीक्षा है। यह शान्तिपर्यन्त पद में योजन के अनन्तर होती है। अवश्य ही गुरुकृपा से यह शिवयोजनात्मिका भी हो सकती है—यह पहले कहा जा चुका है। शिवधर्मी साधक को विधिपूर्वक कर्मों का शोधन करना पड़ता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा तथा विद्या, इन कलाओं में जो कर्मफल है, वह स्थूल है। सूक्ष्म रूप में पाँच कलाओं में कर्मसत्ता रहती है। अर्थात् शान्ति और शान्त्यतीत कला में सूक्ष्म कर्मफल रहता है। इसीलिए समना तक सभी अध्वा ही पाशजाल है।

साधक को कर्म क्षय करना चाहिए, पर सभी कर्मों का नहीं। प्राक्तन या संचित और आगामी कर्मों का क्षय एकसाथ करना चाहिए, किन्तु वर्तमान देह के द्वारा मंत्राराधनादिरूप कर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए। ऐसा होने पर साधक की सिद्धि या भूति लाभ हो नहीं सकता। भोगार्थी साधक के लिए भोग के मार्ग में बाधा नहीं डालनी चाहिए। विद्यादेह या सदाशिवरूप में सभी मंत्रों का न्यास करके और उस देह को अणिमादि गुणसम्पन्न रूप से ध्यान करके, उसी प्रकार की गुणसम्पत्ति के लिए होमपूर्वक साधक का अभिषेक करना पड़ता है। सकल योजन ठीक-ठीक निष्पन्न होने पर अणिमादि गुणों के उदय के लिए प्रक्रिया करनी पड़ती है। अभिषेक की प्रणाली से समझा जाता है कि भोगार्थी साधक के लिए फिलहाल भोग की व्यवस्था रहने पर भी अन्त में मोक्ष की ही प्राप्ति होती है।

शिष्याभिषेक

पाँच कलशों से अभिषेक किया जाता है। ये सभी कलश क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पश्चिम, पूर्व और ईशान कोण में स्थापित किये जाते हैं। प्रथम तीन कलशों में क्रमशः निवृत्ति आदि तीन कलाओं का न्यास करने के पश्चात् शान्त्यतीत कला का न्यास ईशान कोण स्थित कलश में किया जाता है, अन्त में पूर्व दिशा स्थित कलश में शान्तिकला का न्यास करना चाहिए। शान्त्यतीत कला के पश्चात् शान्तिकला न्यास करने का तात्पर्य यह है कि मानो पहले साधक को शिवदशा में विश्रान्तिपूर्वक निर्विघ्नभाव से सदाशिव दशा में सिद्धि प्राप्त हो सके। इसके बाद भोगास्वादन में

तृप्त होकर अन्त में वह शिवत्व-लाभ कर सके। शान्तिकला का भोग ही परमेश्वर की स-कल अवस्था का अणिमादि भोग है। शान्त्यतीत कला प्रथम तीन कलाओं से तथा शान्तिकला से ढकी रहती है। इन पाँच कलशों में पृथिवी आदि पाँचों के न्यास करना चाहिए। ये पाँचों पंचस्थूलभूत नहीं हैं, किन्तु वास्तव में ब्रह्मस्वरूप हैं, जिनके भीतर समस्त तत्त्व और तत्त्वेश्वर स्फुरित होते हैं। इसके बाद प्रतिकलश में आराध्य मंत्र अर्थात् मुख्यत: सकल मंत्र का अथवा अन्य मंत्र का भी न्यास करके सर्वज्ञत्वादि विद्यांग समूह द्वारा 'सकलीकरण' करना पड़ता है। इसके बाद उनमें इन विद्यांगों का आवरण न्यास किया जाता है। ये सभी सर्वज्ञत्वादि विद्यांग सिद्धि सम्पादन के अनुरूप होने के कारण अन्य प्रकार के आवरणन्यास की जरूरत नहीं होती। इसके बाद साध्यमंत्र के द्वारा निवृत्यादि प्रत्येक कलश को अभिमंत्रित करना चाहिए। इससे मंत्र के प्रभाव से सभी भूमियाँ सिद्धिप्रद हो सकती हैं।

आचार्याभिषेक

अब संक्षेप में आचार्याभिषेक का वर्णन कर रहा हूँ। कोई भी व्यक्ति आचार्य पद पर नियुक्त नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति ने गुरु से आगम का ज्ञान प्राप्त किया है या कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों में संयमशील है, जो सदाचारसम्पन्न और सम्यक् ढंग से शास्त्रविहित अनुष्ठान करता है, ऐसा मनुष्य ही आचार्य पद पर अभिषिक्त होने योग्य है। यह अभिषेक शिव-योजना तक दीक्षा समाप्त होने के बाद करना चाहिए। इसे करते समय पाँच कलशों में पाँच तत्त्व और उनकी व्यापक पाँच कलाओं का न्यास करके उसमें अनन्त से शिव तक पाँच भुवनेश्वरों को स्थापित किया जाता है। इसके बाद पूर्व दिशा के क्रम से षड़ंग आवरण से युक्त मंत्रों का चिन्तन करते हुए परमेश्वर का अर्चन होता है। परमतत्त्व भावना के साथ प्रत्येक कलश को अभिमंत्रित किया जाता है। सभी कलशों का पूजन कर मुख्य अभिषेक कार्य आरम्भ किया जाता है। एक मण्डल की रचना कर (बनाकर) उसे स्वस्तिकादि से अलंकृत कर, उसके ऊपर चँदोवा तानना चाहिए और उसे ध्वजाओं से सुशोभित करना चाहिए। इसके बाद उसी मण्डप में चन्दन या अन्य किसी लकड़ी का पीठ स्थापित कर उसमें अनन्तासन ध्यान करना चाहिए। इसके पश्चात् अभिषेकार्थी शिष्य का 'सकलीकरण' संस्कार करना चाहिए। इसके बाद उसे उसी पीठासन पर ईशान कोण की ओर मुख करके बैठाना चाहिए। इसके बाद गुरु शिवभाव में आविष्ट होकर उसका गंधपुष्पादि से अर्चन करते हैं। दीप आदि द्वारा आरती, पूर्ण कलश द्वारा निर्मन्थ करते हैं। इससे सभी विघ्नों का उपशम हो जाता है। इसके बाद उन सभी निवृत्त्यादि कलश के मुँह से शिष्य पर जल की धारा गिरायी जाती है। यही है अभिषेचन। इसके पूर्व शिष्य वस्त्रों का त्यागकर नववस्त्र पहनेगा। पूर्ववस्त्र मायिक

कचुकभावापन्न होता है, अभिषेक के पश्चात् वह भाव नहीं रहता। नवीन वस्त्र परमशिव का प्रकाश है। इसे सदा धारण करना चाहिए। इसके बाद योगपीठ या आसन पर बैठे शिष्य को गुरु अधिकार देते हैं अर्थात् उष्णीष, मुकुटादि, छत्र, पादुका, आसन, अश्व शिविका आदि राजोचित उपकरण और आचार्यभावोपयोगी कर्तरी (कैंची), स्रक, दर्भ और पुस्तकादि दान करते हैं। साथ ही साथ यह आदेश दिया जाता है—'आज से तुम आश्रम चतुष्टय भगवत्शक्तिपात युक्त होने के कारण दीक्षायोग्य व्यक्तियों को केवल अनुग्रह करने की इच्छा से (स्नेह, लोभादि वश नहीं) दीक्षा दान कर सकते हो। यह अधिकार तुम्हें साक्षात् परमेश्वर के आदेश से दिया जा रहा है।'

इसके बाद आचार्य अभिषिक्त शिष्य का हाथ पकड़कर उठाते हुए मण्डप में प्रवेश करायेंगे और वहाँ परमेश्वर की पूजा के बाद कहेंगे—'भगवन्! आपके आदेश से आपके आज्ञानुवर्त्ती आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित मैंने इस जन को अभिषिक्त किया है। यह व्यक्ति अब गुरु परम्पराक्रम से शिवतत्त्व का उपदेश देगा। मैं आपके सान्निध्य में इसे उपदेश दे रहा हूँ ताकि यह अनुगृहीत पुरुष आपके स्वरूप को प्राप्त हो।' इसके बाद गुरु मण्डप के बाहर आकर क्रमशः पाँचों कलशों की अग्नि में आहुति देंगे। इसके बाद पूर्णाहुति, इसके बाद अभिषिक्त पुरुष के दाहिने हाथ को पंच अँगुली मंत्र द्वारा चिह्नित करेंगे और कनिष्ठिका पंच अँगुली का भी स्पर्श करेंगे। यथाविधि इस कर स्पर्श के प्रभाव से मंत्र दीप्त करण रूप में, अल्प समय में कार्यक्षम होता है और समस्त पाश दग्ध बीज की भाँति हो जाते हैं। उसी समय शिष्य मण्डलाग्नि के सामने परमेश्वर, कलश और अग्नि को दण्डवत प्रणाम करके अधिकार-प्राप्ति के कारण प्रसन्न होकर जीवन्मुक्ति और परमशिवत्व दोनों फल प्राप्त करता है। तभी से वह शिवतुल्य होकर शिवधामप्रापक गुरुपदवाच्य हो जाता है।

यह जो परमेश्वर के स-कलरूप में योजना और उसके बाद अणिमादि गुण-प्राप्ति के लिए अभिषेक क्रिया की बातें कही गयीं, इसके पूर्व भगवान् के निष्कल रूप के साथ योग और उनकी गुणप्राप्ति के लिए क्रिया आवश्यक है। क्योंकि, भोगार्थी साधन के लिए शास्त्र में व्यवस्था है कि पहले निष्कल योजना करने के बाद स-कल योजना करना चाहिए। वास्तविक प्रस्ताव में दीक्षामात्र का अन्तिम फल मोक्ष है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो लोग मुमुक्षु और निवृत्तिमार्गी हैं, उनमें भोग-वासना न रहने के कारण मोक्षरूपी फल-लाभ में कोई व्यवधान नहीं रहता। किन्तु भोगार्थी पुरुष पहले इच्छानुसार भोग का आस्वादन करके जब भोगवासना शून्य होते हैं तब मुक्त होते हैं। दोनों दीक्षा के प्रयोजन में भेद है, किन्तु फल में भेद नहीं है।

क्रियादीक्षा

क्रिया और ज्ञानभेद के अनुसार दीक्षा दो प्रकार की हैं। दोनों दीक्षाओं की एक वैज्ञानिक भित्ति है। सूक्ष्मदृष्टि से अनुसन्धान करने पर यह समझ में आ जाता है। क्रियादीक्षा नाना प्रकार की हैं—किन्तु ज्ञानदीक्षा एक ही प्रकार की है। क्रियादीक्षा साधारण और असाधारण भेद से दो प्रकार की है। इसके बाद असाधारण दीक्षा अध्वाभेद से भिन्न-भिन्न हैं जैसे कलादीक्षा, तत्त्वदीक्षा, भुवनदीक्षा, वर्णदीक्षा, मंत्रदीक्षा आदि। इनमें तत्त्वदीक्षा साधारणत: चार प्रकार की है—छत्तीस तत्त्वदीक्षा, नवतत्त्वदीक्षा, पंचतत्त्वदीक्षा और त्रितत्त्वदीक्षा। इसके बाद एकतत्त्वदीक्षा की बातें पायी जाती हैं। छत्तीस तत्त्वों को नौ तत्त्वों में परिणत कर सकने से नवतत्त्वदीक्षा द्वारा भी छत्तीसतत्त्व की शुद्धि हो सकती है। नवतत्त्व हैं—प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव। छत्तीसतत्त्वों को पाँच या तीन तत्त्व में परिणत कर सकने पर पंचतत्त्व या त्रितत्त्वदीक्षा द्वारा वही एक ही फल प्राप्त होता है। पंचतत्त्व हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश। त्रितत्त्व हैं—शिव, आत्मा और माया। एकतत्त्व दीक्षा में छत्तीस तत्त्वों की समष्टिरूप से एकतत्त्व ग्रहण किया जाता है। इसी का नाम है 'बिन्दु'। उसकी शुद्धि से सभी तत्त्वों की शुद्धि हो जाती हैं। पददीक्षा की प्रणाली नवतत्त्वदीक्षा के अनुरूप है। वर्ण, मंत्र, भुवनदीक्षा की प्रणाली कलादीक्षा की तरह है। अतएव अध्वा की विचित्रता के कारण क्रियादीक्षा ग्यारह प्रकार की होती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञानदीक्षा एक और अभिन्न है। इसमें वैचित्र्य नहीं है। सब मिलाकर बारह प्रकार की दीक्षाएँ हैं। पुत्रक की दीक्षा सबीज, निर्बीज एवं सद्योनिर्वाण-दायिनी भेद से तीन प्रकार की है। इस प्रकार कुल (१२ × ३) छत्तीस प्रकार की होती हैं। आचार्य दीक्षा केवल सबीज है, इसलिए बारह प्रकार की है। शिवधर्मी और लोकधर्मी साधकों की दीक्षाएँ एक साथ (१२ + १२) चौबीस प्रकार की हैं। समयी की दीक्षा में अध्वन्यास नहीं है। ज्ञान से हृदयग्रंथि के भेद होने पर एक प्रकार, क्रिया के द्वारा ग्रंथि भेद होने पर एक—कुल मिलाकर दो प्रकार हुए। इस प्रकार यह कुल मिलाकर (३६ + १२ + २४ + २ = ७४) चौहत्तर हैं। भिन्न-भिन्न शिष्यों के आश्रय भिन्न होने के कारण किसी साधक का किसी अध्वा का प्राधान्य रहता है, एक प्रकार से सभी अध्वाओं का गौणत्व रहता है। इस प्रकार दीक्षाएँ अनन्त प्रकार की हैं। आचार्य असिनव गुप्त ने कहा है—

यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत्प्राधान्योपयोगतः।
अन्यान्तर्भावनातश्च दीक्षानन्तविभेदभाक्॥

इस प्रकार तत्त्वाध्वा में भी जब किसी तत्त्व का प्राधान्य हो तब अन्य तत्त्वों का गौणत्व हो सकता है। इसीलिए दीक्षा स्वभावतः विचित्र है, पर यह स्मरण रखना होगा कि छत्तीस तत्त्वदीक्षा की अपेक्षा नवतत्त्वदीक्षा का अधिकारी और गुरु श्रेष्ठ है। नवतत्त्व से पंचतत्त्व, इससे त्रितत्व, इससे एकतत्त्व दीक्षा का अधिकार विरल है। वास्तव में एकतत्त्वदीक्षा के गुरु और शिष्य दोनों ही बड़े दुर्लभ हैं।

कलादीक्षा का विज्ञान
(पाशक्षपण और शिवत्वयोजन)

दीक्षाविज्ञान के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा बना लेने के लिए यहाँ उदाहरणस्वरूप कलादीक्षा का विवरण दिया जा रहा है। सकल अध्वा के मूल में कला का ही प्राधान्य है और शिष्याधिकार के प्रकारभेद की दृष्टि से पुत्रक का प्राधान्य है। इसलिए यहाँ पुत्रक की कलादीक्षा का वर्णन दिया जा रहा है।

वागीश्वरी के गर्भ से जन्म लेने के बाद संसार में उपशम हुआ, इस कारण पुत्रक नाम की सार्थकता है। पृथ्वी से कलातत्त्व तक माया का अधिकार है। यही संसार-मण्डल है। इसके बाद शुद्धविद्या का राज्य है। शुद्ध विद्या ही वागीश्वरी है। वागीश्वरी के गर्भ में जन्म लेने पर विशुद्ध भुवनों में अवस्थान एवं संचार का अधिकार प्राप्त होता है। यह जन्म वस्तुतः बैन्दव देह है, मंत्रदेह प्राप्ति का ही नामान्तर। इस जन्म व्यापार का सम्पादन करने के लिए इक्कीस अवान्तर-संस्कारों की आवश्यकता होती है। जन्म के पश्चात् क्रमशः और पाँच संस्कार आवश्यक हैं जैसे अधिकार, भोग, लय, निष्कृत और विश्लेष। इन छह संस्कारों के द्वारा मंत्र के प्रभाव से पशु के सभी पाश विनष्ट हो जाते हैं। पाश निवृत्त होते हैं, तो आगे चलकर उसके संस्कार भी निवृत्त हो जाते हैं। यही दीक्षा का प्रथम अंग या पाश क्षय है। दीक्षा का द्वितीय अंग है शिवत्वयोजन; जिसके लिए तेरह पदार्थों का अनुभवात्मक ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरु जब दीक्षा देते हैं तब ये दोनों अंग पूर्णरूप से निष्पन्न हो जाते हैं। शिवत्वयोजना में जिन तेरह विषयों का विशेष ज्ञान आवश्यक है, उनके नाम यों हैं—चार प्रमाण, प्राण संचार, छह अध्वा के विभाग, हंसोच्चार, वर्णोच्चार, वर्णवर्ग द्वारा कारण समूह का त्याग, शून्य, सामरस्य, त्याग संयोग, उद्भव, पदार्थभेदन, आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति और शिवव्याप्ति। शिवव्याप्ति में अपनी शिवभावावाप्ति पूर्ण होती है। योजनक्रिया का यही उद्देश्य है।

पाशक्षपण कला में अन्य अध्वाओं का आविर्भाव

यहाँ उदाहरणस्वरूप कलाध्वा का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह जान लेना होगा कि इसमें अन्यान्य अध्वा भी अन्तर्भूत है। तत्त्वादि अन्य दीक्षा में भी

एक ही नियम है। सबसे पहले चाहिए सभी अध्वाओं का पता तथा उपस्थापन। पुंज, मण्टल, गुरु, शिप्य और दीक्षार्थी शिष्य के शरीर में पाशसूत्र है—इन छह अधिकरणों में अवस्थित सभी अध्वाओं को एकत्र करना ही अध्व संधान है। इस क्रिया के साथ सभी अध्वाओं का साधारण या अभिन्न रूप में ज्ञान होता है। इसके बाद सम्मिलित सभी अध्वाओं से इष्ट अध्वा का प्रधान रूप में उपस्थापन करना होता है। अध्वा की जब उपस्थिति हो जाती है जब उसकी व्याप्ति देखना चाहिए जिससे उसके विस्तार का पता चलता है। तब ज्ञात होता है कि व्याप्तिदर्शन वस्तुत: सर्वत्र विश्व का दर्शन है। क्योंकि विश्व इसी के अन्तर्भूत है। कलादीक्षा में, पाँच कलाओं में छत्तीस तत्त्व, दो सौ चौबीस भुवन, पचास वर्ण, दस मंत्र और इक्यासी पद अन्तर्भुक्त है। इसे भावना के द्वारा समष्टि रूप में और पृथक् रूप में जान लिया जाता है। निवृत्त्यादि कलाएँ पृथिव्यादि की शक्ति या सूक्ष्मरूप हैं, कलावर्ग के अधिष्ठान ब्रह्मा से शिव तक छह देवता हैं। अर्थात् पाँच कलाओं के समष्टिभूत बिन्दु के अधिष्ठाता शिव हैं। इसलिए सब मिलाकर छह अधिष्ठाता हैं। इन छह देवताओं की शुद्धि से कलाशुद्धि होती है।

●

अध्वशुद्धि

अध्वशुद्धि का तात्पर्य समझने के लिए सृष्टि और शुद्धितत्त्व का रहस्य समझना आवश्यक है। चिदानन्दमय परमेश्वर अपने स्वरूपभूत स्वातंत्र्य या उन्मना-शक्ति के द्वारा समग्र विश्व को अपने से अभिन्न होने पर भी भिन्नवत् भासित करते हैं। शिव से लेकर पृथ्वी तक समग्र विश्व वाच्य या ग्राह्य एवं वाचक या ग्राहक रूप में स्थित है। वाचक पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप में वर्ण मंत्र या पदनाम में प्रसिद्ध है। वाच्य भी परादि रूप में कला, तत्त्व, भुवन नाम से प्रसिद्ध है।

वर्ण शब्द का तात्पर्य अभेद विमर्शनरूपा शक्ति—यही परा है। किंचित् स्थूल होने पर यह होता है भेदाभेदविमर्शमय मंत्र—यही सूक्ष्म है और स्थूल होने पर यह भेदविमर्शमय पद नाम से प्रसिद्ध होता है—यही स्थूल है। वाच्यरूपा शक्ति क्रमशः कला, तत्त्व और भुवन रूप धारण करती है। वास्तव में कला नामक एक शक्ति स्फुरित होती है। इस स्फुरण में यौगपद्य तो रहता ही है, इसके अलावा दर्पणनगरवत् क्रम का भी भान होता है। क्रम के भान में भी वैशिष्ट्य रहता है। अर्थात् जो पूर्वकालिक है, वह उत्तरकालिक रूप में व्यापक रूप से रहता हैं। जैसे मृत्तिका घटादि में रहती है और जो परकालिक है, वह पूर्वकालिक में रहता है शक्तिरूप में, जैसे वृक्ष रहता है बीज में। अतएव सभी वस्तुओं में सभी वस्तु है—'सर्वं सर्वात्मकम्।'

इस भाव से देखने पर पता चलता है प्रति प्रमाण या भाव ही वस्तुतः परमशिव का स्वरूप है। यह स्वरूप छह अध्वा का स्फुरण रूप परमेश्वरशक्तिमय है और अकार से हकार तक परामर्श रूप पूर्णाहन्तामय विश्राम स्थान है। किन्तु आत्मा अपनी मायाशक्ति के प्रभाव से अपना परमशिवभाव न जानने के कारण अपने को अपूर्ण समझता है। इसीलिए शाब्दीकला के प्रभाव से उसका ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। ऐश्वर्य लोप होने का मुख्य परिणाम यह है कि वर्ण और कला अपने तात्त्विक रूप में स्फुरित न होकर प्रत्ययों का उत्पादन करती है। इस प्रत्यय के कारण ही आत्मा, देहादि, अनात्म वस्तु में अहं प्रतीति करने को बाध्य होते हैं। साथ ही साथ क्रियांश के साथ सम्बन्ध होने से अपने को भोक्तारूपी सोचने लगता है। इस अभिमान के कारण वे खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी, इन चार शक्तिचक्रों के अधीन होकर पशुपदवाच्य हो जाते

हैं। इस पशुभाव को दूर करने के लिए परमेश्वर की अनुग्राहिका शक्ति भगवद्भावाविष्ट गुरु के हृदय में परमार्थ स्वरूप में स्फुरित होकर समग्र अध्वा को, उसके संकोच को दूर करके, अनवच्छिन्न चिच्छक्ति के स्फुरणरूप में प्रदर्शन करती है एवं दीक्षा और ज्ञानादि द्वारा शोधित करती हैं। अतएव गुरु का स्फुरण रूप मंत्रादि शोधक एवं पशु आत्मा में अभिनिविष्ट मंत्रादि शोधनीय है। यहाँ एक बात स्मरण रखनी होगी कि मंत्रादि में इस प्रकार के शोध्यशोधक भाव हैं। एक-एक अध्वा सर्वमय होने के कारण तत्-तत् अध्वा की प्रधानता से दीक्षा के व्यापार में अन्य पाँच अध्वाओं का भी अन्तर्भूतरूप में शोधन होता है। इसीलिए व्याप्तिज्ञान की जरूरत होती है।

निवृत्तिकला का शोधन

जब पूर्ववर्णित उपस्थान क्रिया के द्वारा कला अध्वा सामने उपस्थित होती है, तब उसे पास लाकर शुद्ध करना आवश्यक है। इसके बाद शिष्य की देह में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः निवृत्ति आदि पाँच कलाओं का न्यास करना आवश्यक है। इस क्रिया को इस तरह करना चाहिए जिससे गुल्फ तक निवृत्ति एवं नाभि, तालु, मूर्धा और ब्रह्मरंध्र तक क्रमशः प्रतिष्ठादि कलाओं का न्यास हो जाय। यहाँ तक प्रारम्भिक व्यापार है। यहाँ तक सम्पन्न होने पर अध्वगत तीनों पाशों का शोधन हो सकता है। समग्र विश्व ही पाशमय है। निवृत्तिकला के आश्रय में पृथिवी तत्त्व है एवं उसको आश्रय करके एक सौ आठ भुवन विद्यमान हैं।[१] यहाँ एक वर्ण है। एक (क्ष), दो मंत्र हैं और दो पद हैं अट्ठाइस। प्रतिष्ठाकला में जल से प्रकृति तत्त्व तक तेईस तत्त्व हैं, भुवन है छप्पन[२] वर्ण हैं तेईस (ह से ट तक), मंत्र हैं तीन और पद हैं इक्कीस। विद्याकला में तत्त्व हैं सात (पुरुष से माया तक), भुवन हैं

१. ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सात भुवन हैं, ब्रह्माण्ड के बाहर दस ओर एक सौ रुद्रभवन हैं तथा सभी भुवनों के ऊपर सर्वाधिष्ठाता वीरभद्र का भुवन है। इस प्रकार निवृत्तिकला के अन्तर्गत पृथिवी तत्त्व में एक सौ आठ भुवन हैं। ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सात भुवन यों हैं— अधोभाग में कालाग्नि, कूष्माण्ड और हाटक यानी तीन। मध्यभाग में भूलोक एक और ऊर्ध्वभाग में सत्यलोक से सप्तलोकात्मक एक भुवन है। तदनन्तर उसके पीछे विष्णुलोक; रुद्रलोक, सब मिलाकर सात भुवन हैं।

२. जलतत्त्व में गुह्याष्टक नामक आठ भुवन हैं। तेजतत्त्व में अतिगुह्याष्टक नामक आठ भुवन हैं। वायुतत्त्व में गुह्यतराष्टक नामक आठ भुवन हैं। आकाशतत्त्व में पवित्राष्टक, अहकार, तन्मंत्र और इन्द्रियतत्त्व में स्थाण्वष्टक नाम से आठ, बुद्धितत्त्व में देवयोनि अष्टक नामक आठ एवं गुणतत्त्व में योगेश्वराष्टक नामक आठ हैं—इस प्रकार सब मिलाकर छप्पन भुवन हैं। अभी जिस देवयोनि भुवन की बातें कही गयीं, यह सूक्ष्म हैं। इनके स्थूल भुवन भी हैं, वे ब्रह्माण्ड के भीतर हैं।

सत्ताईस,[१] वर्ण है सात (ज से य तक), मंत्र हैं दो और पद हैं बीस। शान्तिकला में तीन तत्त्व हैं (शुद्ध विद्या से सदाशिव तक), भुवन है सत्रह,[२] वर्ण हैं तीन (ग, ध, क), मंत्र हैं दो एवं पद हैं ग्यारह। शान्तातीत में दो तत्त्व हैं (अर्थात् बिन्दु, नाद—कलारूपाशक्ति और शिव), भुवन सोलह हैं,[३] वर्ण है सोलह (विसर्ग से अ तक), मंत्र एक है और पद एक है (ऋ)।

इस विशाल विश्वव्यापक पाश-समूह के शोधन[४] के लिए एक प्रणाली है जिसमें जन्मादि छह संस्कार अन्तर्गत हैं। समग्र जगत् में चौदह प्रकार के प्राणी विद्यमान हैं। ये सभी प्राणी देवता, मनुष्य और तिर्यक्—इन तीन जातियों के अन्तर्गत हैं। इन सभी जीवों की देहसृष्टि भूतसर्ग के नाम से विदित है, किन्तु योनि के बिना देह की सृष्टि नहीं हो सकती। इन चौदह प्रकार की भूतसृष्टि की मूलभूता योनि शतरुद्र से अनन्त तक विस्तृत है। शतरुद्र ब्रह्माण्ड के बाहर एवं अनन्त ब्रह्माण्ड के अधोभाग में स्थित हैं। वाक् या वागीश्वरी इन सब योनियों में न रहकर ऊपरवाली कलाओं में व्याप्त रहती है। निवृत्ति-व्यापिका वागीश्वरी के साथ पृथिवीतत्त्व में स्थित अनन्त से शतरुद्र तक विभिन्न भुवनों के चौदह प्रकार के प्राणियों के विभिन्न शरीरों का सम्बन्ध है। वास्तव में वागीश्वरी ही सब शरीरों की उत्पादिका है।

---

१. पुरुष और रागतत्त्व में विद्येश्वरों के भुवन आठ हैं, नियति और विद्यातत्त्व में वामा से मनोन्मना तक नौ शक्ति भुवन, काल और कलातत्त्व में महादेव आदि द्वारा अधिष्ठित तीन भुवन हैं एवं मायातत्त्व में सात भुवन हैं—एक नीचे, एक ऊपर, चार बीच में तथा मायाधिष्ठाता अनन्त का भुवन एक है—सब मिलाकर सात भुवन हैं।

२. शुद्धविद्या में विद्यावाग्मियों का एक भुवन है। ईश्वरतत्त्व में पन्द्रह भुवन हैं। ईश्वर का एक भुवन, अनन्तादि विद्येश्वरों के आठ भुवन, धर्मादि के चार भुवन, वामादि तीन शक्तियों का एक भुवन, ज्ञानक्रिया का एक भुवन और सदाशिव तत्त्व में एक भुवन।

इस प्रकार कुल मिलाकर सत्रह भुवन हैं। इनमें ज्ञानक्रिया भुवन में उनसठ भुवन हैं। यहाँ उन सबका विवरण देना आवश्यक है। सदाशिव भुवन शिवरुद्रादि आवरणों के अन्तर्गत अनन्त भुवनों में व्यापक है।

३. शान्यतीत कला में जो शिवतत्त्व है, उसमें बिन्दु से समना तक सकल भूमि ही विद्यमान है। इनमें बिन्दु, नाद और कला—यही तीन आवरण प्रधान हैं। इसमें बिन्दु आवरण में तीन भुवन हैं, यथा—शान्त्यतीत भुवन, यह निवृत्ति आदि चार कलाओं से घिरा हुआ है। अर्द्धचन्द्र भुवन और निरोधिका भुवन, ये दोनों अपनी-अपनी पाँच कलाओं से घिरे हुए हैं। नादावरण में छह भुवन हैं, नाद में इन्धिका आदि पंचशक्ति के पाँच भुवन हैं और नादान्त में सुषुम्नेश्वर परब्रह्म का एक भुवन है। शक्ति आवरण में कुल सात भुवन हैं, यथा—सूक्ष्म आदि चार शक्तियों से घिरा हुआ पराशक्ति भुवन, व्यापिनी भूमि पंचकला का पंचभुवन एवं समना अथवा महामाया में एक शिव भुवन है। सब मिलाकर सोलह भुवन हैं।

४. दीक्षा में पुरुषों में मौजूद सभी पाशों का शोधन होता है। बुद्धिगत पाशों का शोधन नहीं होता। इसीलिए बुद्धि में दोष रह जाने पर भी दीक्षा निष्फल नहीं होती। पर शक्तिपात तीव्रतम होने पर बुद्धिगत दोषों के बीज भी नष्ट हो जाते हैं।

कलादीक्षा के समय जब अध्व-सन्निधान के बाद अध्वविशेषरूप में कलाअध्वा का और उसके अन्तर्गत निवृत्ति-कला का उपस्थापन होता है तब उस निवृत्तिव्यापिका वागीश्वरी को निवृत्ति-कला के अन्तर्गत योनियों में एकसाथ ऋतुरूप में सन्निहित करना होता है। वास्तव में जिस व्यक्ति पर भगवान् का अनुग्रह होता है, उसके लिए वागीश्वरी आर्त्तवरूप में सन्निहित रहती हैं। यह आर्तव शुद्ध सृष्टि की उन्मुखता से होने वाली एकसाथ अनेक देहों की सृष्टि का सामर्थ्य-मात्र है। गुरु केवल प्रयोजन व्यापार के द्वारा सन्निहित वागीश्वरी को मुद्राबन्धन के द्वारा स्थापित करते हैं। इसके बाद उक्त शिष्य पाशसूत्र का प्रोक्षण और तारण करके अपने दक्षिण मार्ग से बाहर निकलकर शिष्य के भीतर प्रवेश करके पाशसूत्रस्थ पुर्यष्टक को आकृष्ट करके देह के साथ उसका रश्मि-मात्र सम्बन्ध रखते हुए अपने द्वादशान्त स्थान अर्थात् मस्तक की रक्षा करनी पड़ती है। इसके बाद उस स्थान के चैतन्य को सम्पुटित करके दिव्य शिवहस्त से संहार-मुद्रा के द्वारा पूरक क्रिया की सहायता से, हृदय में अपनी आत्मा के साथ योजन करना आवश्यक है। इसके बाद कुंभक और रेचक क्रिया करने के बाद उसे द्वादशान्त में उठाकर लिंगमुद्रा के द्वारा सन्निहित वागीश्वरी के गर्भ में स्थापन करना पड़ता है। इस गर्भाधान के समय गुरु अपने को क्रियाशक्तिप्रधान स्रष्टा ईश्वर रूप में तथा वागीश्वरी को मायारूप में देखते हैं। इस समय वागीश्वरी अशुद्ध जगत्प्रसव कारिणी मायारूपा हैं, किन्तु कालान्तर में शुद्ध जगत्-प्रसव करने के समय यही महामायारूपा हो जाती हैं। यही मायारूपा वागीश्वरी के साथ शुद्धविद्या का कोई सम्पर्क नहीं है वर्ना क्रमिक कर्मभोगों को एक ही समय शुद्ध करने के लिए अनन्त देहसृष्टि की आवश्यकता न होती। गुरु के लिए शिष्य के चैतन्य को मायारूपा वागीश्वरी से युक्त करके निवृत्तिकलाप्रधान अध्वा में एक सौ आठ विभिन्न शरीरों की सृष्टि करना आवश्यक होता है।

इन सब देहों की सृष्टि करने का उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा पूर्व कर्मवासना निमित्तक अनन्त जन्म, आयु और भोगात्मक फल प्राप्त होते हैं। इन सब शरीरों में तत्तत् देशकाल और स्वभाव के अनुसार भोग होता है, क्योंकि मन्त्रशक्ति के प्रभाव से ये सब शरीर एक ही समय में फलोन्मुख हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के भोगों के लिए शिष्य के केवल शरीर ही एकसाथ विभिन्न प्रकार के और अनेक हो जाते हैं—ऐसी बात नहीं है। किन्तु वह निर्दिष्ट भोग के लिए तदनुरूप नाना प्रकार के जीव भाव से भी वागीश्वरी योनि में संयोजित होता है। यहाँ दीक्षामात्र एक होने पर भी विभिन्न शरीर धारण करने के लिए उसे अनेक कहा गया है। अनेक भोगों के आश्रयस्वरूप विचित्र देह और विचित्र भोगों के सम्बन्ध रहने के कारण एक होने पर भी उसमें अनेकत्व आविर्भूत हो जाता है। वागीश्वरी के गर्भ में शिष्य के चैतन्य को संयोजित करने के बाद सभी गर्भों में एक

ही साथ, शतरुद्र से अनन्त तक अनेक प्रकार के देह परमेश्वरभावाविष्ट गुरु की इच्छा से निष्पन्न होते हैं। इसके बाद गर्भ से निष्क्रमण होता है। इसी का नाम जन्म है। पाशनाश के लिए जो छह संस्कार हैं, उनमें यह प्रथम संस्कार है।

जन्म के बाद अधिकार आदि और पाँच संस्कार हैं, यह पहले कहा जा चुका है। सभी योनियों में वे सब देह एकसाथ वृद्धि प्राप्त करते हैं। उस समय इनका भोग में अधिकार होता है। माया के अन्तर्गत भोग ही कर्मफल है। कर्म शुभ अथवा अशुभ वासनात्मक होते हैं। इन सभी कर्मों से भोग क्रमश: उत्पन्न होते हैं, किन्तु मंत्र शक्ति के प्रभाव से अक्रम में अर्थात् एक ही साथ सभी भोग निष्पन्न हो सकते हैं। अनेक जन्मों से संचित प्राक्तन कर्म दग्ध हो जाते हैं और भविष्यत् कर्मों की वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। केवल देहारम्भक कर्म ही भोग द्वारा नष्ट होते हैं। कर्मानुष्ठान से भोगसाधन प्राप्त होने पर सुखदु:खात्मक भोग अनुभव करने का अवसर आता है। भोग निवृत्त हो जाने के बाद कुछ समय के लिए एक अनिवर्चनीय तृप्ति उत्पन्न होती है, यह परमप्रीति की अवस्था है। तंत्रशास्त्र में इसे लय कहा गया है। इसके बाद निष्कृति नामक संस्कार की आवश्यकता होती है। शुभ अथवा अशुभ कर्मों से वीरभद्र के भुवन तक विभिन्न भुवनों में जन्म, आयु, भोग—इन तीन फलों का भोग होता है। इसे शुद्ध करने के लिए ही निष्कृति-संस्कार आवश्यक है। भुवनाकार विषयों में जितने विषय भोगरूप में हैं, उन सबको शुद्ध करना आवश्यक है। निष्कृति के साथ-साथ समस्त कर्मों का फलभोग समाप्त हो जाता है। इसके कारण केवल जन्म आदि की ही शुद्धि नहीं होती, रुद्रांश प्राप्तिरूपा शुद्धि भी उत्पन्न हो जाती है। निष्कृति भोग समाप्ति की सूचक है। इसके बाद विश्लेष होता है। अर्थात् भविष्य में भोग के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। क्योंकि उस समय भोक्ता में भोक्तृत्व नहीं रहता। विश्लेष या भोगभाव सम्पन्न हो जाने के बाद भूतसर्ग रूप नाना प्रकार के स्थूल, सूक्ष्मादि शरीर नष्ट हो जाते हैं। उनके पुन: उदय होने की सम्भावना नहीं रहती।

इस प्रकार दीक्षा के द्वारा तीनों प्रकार के पाशों का विश्लेष हो जाता है। उस समय सब शरीरों का नाश हो जाने के कारण गुरु शिष्य को अविच्छिन्न चैतन्यरूप में देखते हैं। पाशसम्बन्धविमुक्त चैतन्य शुद्ध निवृत्तिकला के ऊपर स्थित होता है और सुवर्ण प्रभा की भाँति देदीप्यमान होता है। उस वक्त निवृत्ति के द्वारा व्याप्त पृथिवीतत्त्व से शिष्य को उठा लेना पड़ता है। यद्यपि यह चैतन्य निवृत्ति की शुद्धता से निर्मल है, तद्यपि अभी तक अन्यान्य कलाओं की शुद्धि नहीं हुई है, इस कारण व्यापक दृष्टि से उसे मलयुक्त कहना पड़ेगा। गुरु उस चैतन्य को पृथिवीतत्त्व से आकर्षित कर प्रणव पुटित हंसबीज के आकार में संहार-मुद्रा के द्वारा पूरकक्रिया का अवलम्बन करते हुए अपने हृदय में ले आते हैं। उसके बाद कुम्भक और

द्वादशान्त में रेचन करके पुनः द्वादशान्त से उठाकर नाड़ीरन्ध्र के द्वार। ाष्य के हृदय में पहुँचा देते हैं। तंत्रशास्त्र में इस क्रिया को 'तत्स्थीकरण' कहा जाता है।

निवृत्तिकला शुद्ध हो जाने के बाद उस कला के अधिष्ठाता ब्रह्मा का आवाहन करके पूजा और तर्पण करना चाहिए। इसके बाद शिष्य के पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्मदेह के कुछ अंश अर्पण करना चाहिए। पुर्यष्टक शब्द का अर्थ 'पुरी' अथवा सूक्ष्मदेह के आरम्भक पाँच तन्मात्रा और मन, बुद्धि और अहंकार, यही आठ अवयव हैं। इस अष्ट अवयव से शब्द और स्पर्श—ये दो अवयव ब्रह्मा को अर्पण करना चाहिए। इसके बाद परमेश्वर को निम्नोक्त आदेश देना चाहिए,

भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया।
प्रतिबन्धः प्रकर्त्तव्यः यातुः पदमनामयम्॥

(द्रष्टव्य-मालिनी विजय)

हे भुवनेश्वर, भगवान् शिव के आदेशानुसार परमपद के यात्री इस साधक के मार्ग में विघ्न उपस्थित मत करना। इसके अन्तर्गत पूजा, होम आदि करने के बाद ब्रह्मा और बाद में वागीश्वरी को विसर्जन करना पड़ता है। वागीश्वरी वास्तव में स्वातंत्र्यशक्तिरूपा परावाक् का ही स्फुरण-मात्र है, इसीलिए परावाक् के साथ एकत्व सम्पादन ही उसका विसर्जन है। इसके बाद विशुद्ध विवृत्तिकला में विशुद्ध पाशों का दर्शन करना चाहिए। इसके कारण प्राक्तन और भावी दोनों प्रकार के कर्म कट जाते हैं, यह स्पष्टरूप से देखने में आता है; क्योंकि पुत्रक शिष्य मुमुक्षु होने के कारण साधक की तरह फल की ओर उन्मुख नहीं रहता।[१] फलदान में उन्मुख वर्तमान अथवा प्रारब्ध कर्मों की शुद्धि करने का विधान नहीं है। केवल भोग के द्वारा उसका क्षय किया जाता है।

इस प्रकार निवृत्तिकला की शुद्धि के बाद उसका संधान करना आवश्यक है। यह साधारणतया दो प्रकार से किया जाता है—(१) शुद्धकला का संधान एवं (२) प्रतिष्ठाकला के सम्बन्ध के कारण अशुद्धकला का संधान। सम्पूर्ण पाशों का शोधन करनेवाले एकादश अंग विशिष्ट निष्कल मंत्र ही शोधन करते रहते हैं। ये निष्कल मंत्र शुद्धकला के वाचक होने के कारण इन्हें शुद्ध कहा जाता है और यही अगर अशुद्धकला के वाचक हों तो इसे अशुद्ध कहा जाता है।

शुद्ध निवृत्तिक एक निष्कल उच्चारण किसी विशिष्ट स्वरूप में किया जाता है। इसका स्वरूप परबिन्दु तक व्यापक एवं यही प्रसरोन्मुख है। इन दोनों के एकत्व

---

१. शिवधर्मिणी दीक्षा में साधक को भी जन्मान्तर से संचित शुभाशुभ एवं वर्तमान जन्म में भावी कर्मों को शुद्ध करना पड़ता है। केवल भावी मंत्राराधनरूप कर्मों का शोधन नहीं किया जाता, क्योंकि इन सभी कर्मों से विभूतियों का आविर्भाव होता है। लोकधर्मिणी दीक्षा में लौकिक साधकों के भूतपूर्व और आगामी कर्मों के अधर्मांश का ही नाश किया जाता है, धर्मांश रख दिया जाता है। दीक्षा के प्रभाव से वह धर्मांश अणिमादि विभूति रूप फल प्रदान करता है।

अथवा सामरस्य भावना करते-करते तथा शुद्ध निवृत्ति को लीन और अशुद्ध प्रतिष्ठा को उद्बुद्ध करने के लिए तद्वाचक[1] मूल मंत्र के साथ एकीभूत भावना करते हुए उच्चारण होता है।

प्रतिष्ठाकला का शोधन

इसके बाद पूर्ववर्णित प्रणाली से प्रतिष्ठाकला के शोधन का विधान है। यहाँ भी पूर्ववत् कलासंधान, प्रतिष्ठाकला का व्याप्तिदर्शन, वागीश्वरी-गर्भ से जन्म एवं उसके परवर्ती अधिकार आदि विश्लेष तक सभी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। किन्तु निवृत्ति की अपेक्षा कुछ-कुछ वैशिष्ट्य किसी-किसी स्थान में देखा जाता है। इसमें ताड़न, प्रोक्षण आदि कार्य क्रिया-प्रधान ऐश्वर्यमूर्ति में और अधिकार, भोग, लय एवं निष्कृति शिवभावापन्न[2] होकर करना चाहिए तथा विश्लेषण एकचैतन्यभावना और उद्धारादि क्रिया ज्ञानशक्ति प्रधान सदाशिव स्वरूप से होती है, किन्तु क्रियाशक्ति प्रधान ईश्वररूप में नहीं होती। प्रतिष्ठाकला के अधिपति विष्णु हैं। इन्हें पूर्णप्रणाली के अनुसार पुर्यष्टक का रस अर्पण करना पड़ता है। इन्हें भी पूर्ववत् भगवद् आदेश सुनाकर विसर्जन करने के पश्चात् परावाक् में वागीश्वरी का विसर्जन करना पड़ता है। इसके बाद पहले की तरह कलासंधान आवश्यक है।

विद्याकला का शोधन

इस प्रकार पशु जब दो कलाओं से मुक्ति प्राप्त करता है तब उसके चैतन्य को विद्या में युक्त करके शुद्ध किया जाता है। इस स्थल पर सभी क्रियाएँ पहले की तरह हैं। किन्तु विश्लेषण और पाशच्छेद के बाद आत्मस्थता और तत्स्थीकरण करना आवश्यक है। इस कला के अधिपति रुद्र हैं। उन्हें आमंत्रित करके पुर्यष्टक का गंधरूप अंश अर्पण करना चाहिए।

शान्ति और शान्त्यतीत कला का शोधन

शान्ति और शान्त्यतीत कलाओं के शोधन में भी कोई नूतन प्रक्रिया नहीं है, पर यहाँ पुर्यष्टक का अहंकार-रूप अंश शान्ति के अधिष्ठाता सदाशिव को अपर्ण करना चाहिए।

पंचकला विशिष्ट दीक्षा समाप्त होने के बाद वागीश्वरी से क्षमा प्रार्थना करने का विधान है।

---

१. निवृत्ति आदि पाँचों कलाओं के बीच मंत्र क्रमशः हृत्, शिरः, शिखा, कवच और नेत्रमंत्र कहे जाते हैं।

२. अधिकारादिज्ञान प्रभुत्व के कारण होते हैं। सदाशिव आदि समस्त स्थलों में शिव ही प्रभु हैं।

पुर्यष्टक-अर्पण

पुर्यष्टक अर्पण करने का तात्पर्य क्या है? पहले बताया गया है कि शिष्य के पुर्यष्टक को ब्रह्मादि पंचकारणों में अर्थात् कलाधिष्ठाता देवता को अर्पण किया जाता है। ये पंचदेवता सभी अध्वा के अधिष्ठाता हैं। ब्रह्मा में शब्द और स्पर्श का अपर्ण होता है। ये ब्रह्मा वास्तव में परम व्यापक रूप में नादान्त के ऊर्ध्व में विराजमान हैं। ब्रह्मरन्ध्र के अधिष्ठाता ब्रह्मस्वरूप[१] हैं। विष्णु में रस अर्पित होता है। ये प्रसरणमय शक्तिस्वरूप है।[२] रुद्र में रूप और गंध समर्पित होता है। ये परम व्यापक रूप में व्यापिनी पद पर अवस्थित अनाश्रित नाथ हैं।[३] स्मरण रखना होगा कि व्यापिनी शून्य का ही नामान्तर है। बुद्धि और अहंकार रूप अंश ईश्वर में अर्पित होते हैं। ईश्वर समनापद में आरूढ़ सृष्टि के अधिकार से युक्त शिव का नामान्तर हैं।[४] मन सदाशिव में अर्पित होता है। ये सदाशिव निर्मल, स्वातंत्र्यमय, चिदानन्दघन परमशिव का स्वरूप हैं।[५] इन सभी देवताओं को पुर्यष्टक के अंश समर्पित करने का उद्देश्य यह है कि इस उपाय से सूक्ष्मदेह का सूक्ष्मतम संस्कार भी शान्त हो जायगा। सूक्ष्मदेह आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाने पर भी दीक्षा का प्रथम उद्देश्य प्राय: सिद्ध हो जाता है।

शान्त्यतीत कला शुद्ध होकर परम शिव में लीन हो जाती है। ये परमशिव स्वातंत्र्यमय एवं व्यापिनी से पृथिवी तक सभी प्रकार के भाव और अभाव की भित्ति स्वरूप महाशून्य के आश्रय हैं। स्वातंत्र्यशक्ति ही उन्मना और महाशून्य समनात्मक है।

पूर्वोक्त विवरण में मायातत्त्व तक अध्वाशुद्धि दिखायी गयी है। यहाँ तक अध्वा आत्मतत्त्व द्वारा व्याप्त एवं परम दृष्टि से देखने पर यही प्रमेय स्वरूप है। माया के ऊपर सदाशिव तक अध्वा भगवान् की ज्ञानक्रियात्मिका शक्ति के द्वारा

---

१. ब्रह्म में सूक्ष्मतम शब्द और स्पर्श का सम्बन्ध है, क्योंकि यह नादान्त और शक्ति की मध्यवर्ती अवस्था है।

२. विष्णु के साथ सूक्ष्मरस का सम्बन्ध है, क्योंकि शक्ति मूलत: स्पर्शप्रधाना होने पर भी प्रसरण अवस्था में रसमयी होकर रहती है। इसीलिए शक्तिमय विष्णु में सूक्ष्मतम रस का सम्बन्ध माना गया है।

३. रुद्र में सूक्ष्मतम संस्काररूप में अति सूक्ष्म गंध की सत्ता है। व्यापिनी अथवा अनाश्रित पद में समग्र विश्व के संधायक-स्वरूप रुद्र की स्थिति है। सूक्ष्मतम संस्कार अर्थात् गंध पूर्वसृष्ट जगत् उपसंहार के बाद स्थितिशील बीजमात्र भाव है।

४. शिव केवल मननात्मक हैं। इसलिए उनमें लीन बुद्धि और अहंकार-वासना का सम्बन्ध रहता है।

५. परमशिव उन्मनाशक्ति के साथ संश्लिष्ट हैं। उसमें मनन-संस्कार नहीं रहता—यह ठीक है, परन्तु तांत्रिक आचार्यों का कहना है कि उसमें अति सूक्ष्मतम, सुप्रशान्त मन:संस्कार का सम्बन्ध रहता है।

व्याप्त है। समग्र अध्वा के अंश को प्रमाण और करणात्मक माना जा सकता है। इसके बाद शक्ति या समना तक शिवतत्त्व द्वारा व्याप्त है। इसे परमदृष्टि से परमात्मा का रूप माना जा सकता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पृथिवी से माया तक आत्मतत्त्व ही प्रमेय है, शुद्धविद्या से सदाशिव तक विद्यातत्त्व ही प्रमाण एवं शक्ति और शिवरूपी शिवतत्त्व ही प्रमाता है। इन तीनों तत्त्वों की शुद्धि से क्रमशः पूजा, होम आदि विधि तथा अनुष्ठानगत न्यूनता और आधिक्य से, मंत्रोच्चारण में विलोमभाव रहने के कारण एवं मनोविज्ञान रूप भावना में वैकल्य से जितनी त्रुटियाँ होती हैं, उन सबका निराकरण आवश्यक है।

शिखाच्छेद

इसके बाद शिखाच्छेद का विधान है। स्थूलदेह में जिस शिखा का संरक्षण किया जाता है, वह मस्तक तक ऊर्ध्व गतिशील प्राणशक्ति का अनुकरण है। इस शक्ति का अधः प्रवाह ही बन्धन का सेतु है। बाह्यशिखाच्छेद का तात्पर्य है—प्राणशक्ति का उपशम। शान्त्यतीत शक्ति समस्त तत्त्वों में व्याप्त है; समस्त कारणों का कारण एवं सभी प्रकार की उपाधियों से रहित और निष्कलंक है। इस शक्ति को पुष्प के अग्रभाग स्थित जलबिन्दु की भाँति शिष्य के शिखाग्र में भावना करके उस शिखा को, मंत्रपूत कर्तरी या कैंची से छेदना आवश्यक है। इसके बाद शिखाहोम होता है। इसे प्राणशक्ति विलापन मानना चाहिए। यहाँ तक कृत्य सम्पन्न होने के बाद शिष्य गुरु का शिवहस्त पूजन करके मण्डप में परमेश्वर की पूजा करेगा और परमेश्वर के निकट वह प्रार्थना करेगा—"हे भगवान्, आपकी कृपा से छह अध्वाओं में बँधे हुए पशु को आकर्षित कर उसके मल को शुद्ध किया, शिखाच्छेद तक सभी कृत्य आपके बताये हुए क्रम के अनुसार कर चुका हूँ। अब आपका निरपेक्ष अनुग्रह ही उसे निश्चित रूप से परमशिव तक पहुँचा देगा।"

शिवत्वयोजन (क्रियादीक्षा)

योजना की उपयोगी जितनी क्रियाएँ हैं, उनका तात्पर्य क्या है? पाशशुद्धि के बाद भगवद् आदेश के अनुसार गुरु को शिष्य की अभेद सम्पादक योजन-क्रिया करनी पड़ती है। इस क्रिया के अन्तर्गत प्राथमिक कृत्य सम्पादन करके अंगमंत्रों को शुद्ध करना पड़ता है। ये सभी मंत्र श्री भगवान् के अंतरंग शक्ति-स्वरूप हैं। ये चैतन्यस्वरूप आत्मा के निष्कल स्वरूप का आच्छादन करके सकल भावों का स्फुरण करते हुए इस प्रकार भेदज्ञान उत्पन्न करते हैं।

इन सभी मंत्रों से अनुरोध करना पड़ता है कि वे पशु को स-कल भाव में परिणत न करें। योजनकर्म अत्यन्त कठिन है, इसके द्वारा जीवात्मा और परमात्मा

का योग होता है और तब जीव परमशिव अवस्था लाभ करता है। स्वच्छन्दतंत्र में लिखा है—

तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सर्वज्ञादिगुणान्वितः।
शिव एको भवेद् देवि अविभागेन सर्वतः॥

ज्ञान और योग का अभ्यास न रहने पर योजनक्रिया सम्पन्न नहीं की जा सकती।

पुर्यष्टक अर्थात् लिंग शरीर में जो अहंभाव रहता है, पहले उसे शान्त करना पड़ता है। क्योंकि जब तक यह अहंभाव शान्त नहीं होगा तब तक भगवान् के साथ योग स्थापित नहीं होगा। स्वप्नावस्था में प्राण का आश्रय लेकर पुर्यष्टक कार्य करता है, किन्तु सुषुप्ति में इसका आश्रय शून्य है। इसीलिए प्राण और शून्य भूमि को शान्त करना आवश्यक है। यद्यपि कारणाधिष्ठातृ देवताओं को पुर्यष्टक के अवयवों को अर्पण किया जा चुका है तथापि उसके द्वारा एक हिसाब से सभी वृत्तियों का निरोध हो सकता है। फलस्वरूप भूमिशुद्धि नहीं होती और भूमिशुद्धि न होने पर योजना की उपयोगी आत्मा आदि की व्याप्ति नहीं हो सकती। प्राण और शून्य के प्रशमन के लिए ज्ञान तथा योगादि आन्तरक्रिया करना कुछ आवश्यक है। इस प्रसंग में श्वास का देशगत और कालगत परिणाम जानकर प्राण की आरोहण, अवरोहण दोनों क्रियाओं के तत्त्वों को जानना आवश्यक है। इसलिए पूर्णत्व प्राप्ति के मार्ग में जिस परिमाण में अध्वा का अतिक्रम करना पड़ता है, उसका भी परिचय ज्ञात रहना आवश्यक है। जिस व्यापार को तंत्रशास्त्र में अध्वलंघन नाम से अभिहित किया गया है, वह ऊर्ध्वनाद द्वारा सम्पन्न होता है। इस क्रिया का पारिभाषिक नाम 'हंसोच्चार' है।

हंसोच्चार

उच्चार दो प्रकार के हैं। एक स्वाभाविक और दूसरा प्रयत्न द्वारा सिद्ध होता है। दूसरे प्रकार के उच्चार के प्रभाव से निष्कल मंत्रों के अवयवभूत सभी वर्ण अर्थात् अ, उ, म आदि ब्रह्मादि कारण वर्गों को तथा तदनुकूल काल का परित्याग करने में समर्थ होता है। यहाँ तक क्रिया सम्पन्न कर लेने पर प्राण की चंचलता दूर हो जाती है और शान्ति का अनुभव होता है। यही है प्राण की उपशम प्रणाली। इसके बाद शून्यभूमि को शान्त करने की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि ऐसा न होने पर मंत्र, आत्मा और नाड़ी आदि का सामरस्य समझ में नहीं आता। जब सामरस्य ही समझ में नहीं आयेगा तो परमेश्वर के साथ आत्मा का योग कैसे हो सकता है? मंत्रोच्चार के अंगरूप से उसके अवयवभूत बारह प्रमेयों को जानना आवश्यक है। ये सभी प्रमेय प्रणव के विभिन्न अवयव हैं, इसे स्मरण रखना चाहिए। इनके नाम हैं अ, उ, म, बिन्दु,

अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। इन सभी प्रमेयों को जान लेने के बाद उनमें से प्रत्येक की दशा को छोड़ देने पर क्रमशः ऊर्ध्व आरोहणरूप अवस्था प्राप्त की जा सकती है। इसे उद्भव कहा जाता है। किन्तु इन सभी दशाओं को त्याग करने के पूर्व उनके संयोग का प्रकार भी जान लेना आवश्यक है। ज्ञान और मंत्ररूपी शूलों के द्वारा अर्थात् विशुद्ध ज्ञान एवं मुद्रा और भावयुक्त मंत्र से ग्रंथियों का छेदन न कर सकने पर पूर्व वर्णित दशा त्याग अथवा उद्भव कुछ भी नहीं हो सकता। इस ज्ञान और योग का मूल, भाव प्राप्ति अर्थात् सुदृढ़ धारणा और शब्दादि अनुभव है। इन दोनों प्रकार के भावों के प्रभाव से ही विशुद्ध ज्ञान और योग उपलब्ध हो सकता है। इस स्थिति में शून्य का उपशम हो जाता है। यहाँ तक के मार्ग को पार कर लेने पर आत्मतत्त्व में अपनी विशुद्ध अवस्था का अनुभव होता है। इसे कहते हैं—आत्मव्याप्ति। इसके बाद विद्यातत्त्व क्रमशः उन्मना में विश्रान्त हो जाने पर विद्या प्राप्ति होती है। इसके बाद शिवतत्त्व के परमशिव में समाविष्ट होने पर शिवप्राप्ति सिद्ध होती है। जब शास्त्र और अनुभव के द्वारा इन तीन प्रकार की व्याप्ति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है तब विशुद्ध रूप से परतत्त्वयोजन हो सकता है।

प्राणोच्चार-विज्ञान

अब परिमाण सहित प्राणोच्चार विज्ञान के बारे में बताया जा रहा है। योगियों का कहना है कि प्राण हृदय से प्रसूत होकर ऊपर की ओर समनाशक्ति केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र तक संचार करता है। इस प्रदेश का विस्तार अति वृहत् से अत्यन्त क्षुद्र प्राणी में भी अपने-अपने मान से छत्तीस अंगुल है। प्राणों की यह गति यद्यपि सभी प्राणियों में एक प्रकार की है तथापि कर्म-वैचित्र्य के कारण इसमें तारतम्य दिखाई देता है। इस छत्तीस अंगुल-संचार में आना-जाना दोनों प्रकार की गति है। इसमें प्राण का आरोह और अपान की गति को आरोह समझना चाहिए। प्राणरूपी सूर्य हृदय में उदित होकर ब्रह्मरन्ध्र में अस्त होता है; इसी का नाम दिन है। पक्षान्तर से अपानरूपी चन्द्र ब्रह्मरन्ध्र में उदित होकर हृदय में अस्त होते हैं—इसी का नाम रात्रि है। इस प्राण-अपानरूप दिन-रात में दो संध्याएँ हैं। प्रातः संध्या का स्थान हृदय है एवं सायं संध्या का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक संचार करने में प्राण को जितना समय लगता है, उसे षोडश त्रुटि या एक निःश्वास कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मरन्ध्र से हृदय तक उतरते समय अपान को ठीक उतना ही समय लगता है—इसका नाम प्रश्वास है। इन्हीं में दोनों संध्याओं का अन्तर्भाव समझना चाहिए। प्रत्येक संध्या एक-एक त्रुटिकाल तक स्थायी होती है। इसीलिए प्राण और अपान दोनों के सम्मिलित संचार को सवा दो अंगुल कहते हैं।

जब तक परमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक इस प्राणसंचार क्रिया का अभ्यास करना पड़ता है। प्राणरूपी मंत्र हृदय से उठकर ज्ञान विकास के तारतम्य के अनुसार ऊपर की ओर प्रवाहित होता है। किन्तु परमतत्त्व का ज्ञान न रहने के कारण वह ब्रह्मरन्ध्र तक उठकर नीचे वापस आ जाता है और ब्रह्मरन्ध्र भेद नहीं कर पाता। सर्वप्रथम मंत्र अट्ठारह अंगुल तक उठकर तालु तक पहुँचता है। यही रुद्र अथवा मायाग्रंथि का स्थान है। इस ग्रंथि का भेद न कर सकने के कारण यह मध्य नाड़ी के द्वारा भ्रूमध्य में, ईश्वरस्थान में जाता है। प्राण पहले अट्ठारह अंगुल तालुस्थान में रह जाता है। इसके बाद भ्रू ग्रंथि भेद न कर सकने के कारण परवर्ती छह अंगुल यहाँ रह जाता है। यहाँ से पार्श्ववर्ती दो नाड़ियों का अवलम्बन कर शेष बारह अंगुली प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है। किन्तु शाक्तबल न रहने के कारण वह ब्रह्मरन्ध्र को भेद नहीं कर पाता। इसीलिए शेष बारह अंगुल इस स्थान पर रह जाता है। यही प्राण का अस्तगमन होता है। इसके बाद अपानक्रिया के बाद वह हृदयदेश में उत्थित होता है। इस प्रकार निरन्तर कार्य चल रहा है। यह दुर्बल अधिकारी की कहानी है।

किन्तु जिस साधक को शाक्तबल प्राप्त होता है, उसका प्राण सभी ग्रंथियों में संचार करने में समर्थ होता है। परतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर किसी भी ग्रंथि में स्थित रहने पर भी प्राण बाधित नहीं होता, अर्थात् देहादि में प्रमातृभाव का उदय उसे अधीन नहीं कर पाता। परज्ञान के कारण देहादि में विद्यमान अहंकार से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। प्राण के ऊर्ध्वसंचार की मात्रा के अनुसार अज्ञान से ज्ञान का उदय और इसके बाद ज्ञान की वृद्धि का एक निर्दिष्ट क्रम देखने में आता है। जिस वक्त प्राण शक्ति के द्वारा प्रतिहत होकर नीचे की ओर जाता है, उस समय साधक अज्ञानावस्था में रहता है; एक प्रकार की 'अबुध' अवस्था। जिस समय वह हृदय में स्थित रहते हुए, हृदय से ऊपर उठना आरम्भ करता है, वही उसकी 'बुध्यमान' अवस्था है। उस समय ज्ञान की उत्पत्ति होती रहती है। ऊपर उठते-उठते जब उसे शक्ति प्राप्त होती है, उस अवस्था का नाम 'बुध' या ज्ञानी है। शक्ति का बल पाकर तत्त्वारोहण का कौशल जाना जा सकता है—इसके कारण व्यापिनों तक पहुँचने पर साधक की अवस्था का नाम होता है—'प्रबुद्ध'। इसके भी ऊपर उठकर समना तक सभी अध्वाओं को पार कर लेने पर 'सुप्रबुद्ध' अवस्था की प्राप्ति होती है। उस समय परमतत्त्व का आभास मिलता है। उस वक्त मन के संस्कार क्षीण हो जाने के कारण उन्मना भाव की प्राप्ति होती है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि ब्रह्मरन्ध्र भेद हो जाने के बाद यह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में अणुतम से लेकर महत्तम तक काल का स्पर्श नहीं रहता, निवृत्ति आदि की कला नहीं रहती, प्राण तथा अपान का संचार भी नहीं रहता, पृथ्वी आदि छत्तीस तत्त्व नहीं रहते और न ब्रह्मा,

विष्णु आदि कारणकर्त्ता ही रहते हैं। यही परम अद्वय एवं परभ शुद्ध अवस्था है। इस अवस्था का अनुभव होने पर जीवन्मुक्त सिद्ध होता है।

षडध्वा

प्राण में ही छह अध्वा अवस्थित है। सूक्ष्म और स्थूल भेद से प्राण दो प्रकार के हैं। प्राणसंचार के प्रसंग में जिस प्राण के बारे में कहा गया है, वह स्थूल प्राण है। किन्तु स्थूल प्राण का एक परिमाण है—यह छत्तीस अंगुल का होता है। यहाँ अध्वा के आश्रयरूपी जिस प्राण के बारे में कहा गया है, वह है सूक्ष्मप्राण। विशेषों में सामान्य का आभास रहता है—इसे तत्त्व कहते हैं। शरीर और भुवनादि की रचनाओं के यही मूल उत्पादन तत्त्व हैं। देह, मृत्तिका, काष्ठ, पाषाणदि में जो काठिन्य का आभास है, वही पृथिवीतत्त्व है। इसी प्रकार अन्यान्य तत्त्वों के विषय में समझना चाहिए। यह सामान्य आभास प्ररचिद् भित्ति में भासमान है। भासमान जरूर होता है, किन्तु परमचिद् भूमि में यह सब चिदेकरस रहने के कारण वहाँ किसी प्रकार का विभेद नहीं रहता। संकोच के समय चिच्छक्ति पहले प्राणों का रूप ग्रहण करके देह में व्यापक होती है तथा विभिन्न तत्त्वों में स्फुरित होती रहती है। छहों अध्वा में इसका नाम तत्त्वाध्वा है। पैर से लेकर मस्तक तक काठिन्यादि रूप में जिस चिच्छक्ति का ज्ञान होता है, वही तत्त्वाध्वा और भुवनाध्वा है। समग्र देह में व्यापक सूक्ष्म-प्राण में अन्यान्य अध्वाओं का विभाग समझना चाहिए। निवृत्ति और प्रतिष्ठाकला देह के अधोभाग में है, विद्यादि तीन कलाएँ ऊपर के भाग में हैं। आत्मा की शुद्ध दशा शान्त्यतीत कला के बाद है। इसके ऊर्ध्व में उन्मना और परतत्त्व का सामरस्य रूप अव्यय पद है। मंत्रकलाओं की स्थिति भी प्राण में ही है। वर्ण है शब्द, शब्द होने से ध्वन्यात्मक प्राणों का उद्‌भव होता है एवं ध्वनि में ही वर्णों का लय होता है। इसीलिए वर्णाध्वा भी प्राणों में ही स्थित है। शब्दातीत होने पर परमतत्त्व के साथ अभेद और विभुत्व का आविर्भाव होता है। उस समय धर्माधर्म और प्राणापानादि सभी द्वन्द्वों का नाश हो जाता है।[१] वर्णों के समान मंत्र और पद भी प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि वे भी शब्दात्मक हैं।

●

---

१. अधर्म के प्रभाव से स्थावर तक देहों की प्राप्ति होती है। ये देह अपान-प्रधान होते हैं। धर्म के कारण प्राण-प्रधान शक्ति अथवा समनाभूमि तक देवादि योनियों की प्राप्ति होती है। किन्तु विज्ञान के बल से अद्वय-बोध हो जाने पर दोनों का हो त्याग हो जाता है और जीवित रहते हुए ही सर्वव्यापकत्व अथवा विभुत्व आविर्भूत होता है।

हंसोच्चार और वर्णोच्चार

अब संक्षेप में हंसोच्चार और वर्णोच्चार के बारे में कहूँगा। परमेश्वर की बोधरूपाशक्ति विश्व को गर्भ में धारण करती हुई पराकुण्डलिनी-रूप में स्फुरित होती है।[१] इसके बाद इसके भीतर ही वर्ण कुण्डलिनी रूप में आविर्भूत कर प्राणकुण्डलिनी के रूप में भासभास होती है। यही प्राण 'हंस' है। यह स्वभावत: ऊपर और नीचे की ओर चलती रहती है। इसके इस प्रकार चलने से 'ह'-कार और 'स'-कार विमर्शा रूप में उसका भान होता है। इसमें 'ह'-कार का धर्म-त्याग और 'स'-कार का धर्म ग्रहण है। यह नादरूपी हंस का जो स्वाभाविक उच्चार है, वही परिस्फुट वर्ण का उच्चार है। यह वर्णोच्चार योगियों में भ्रूमध्यस्थान में बिन्दु रूप में अनुभूत होता है। यह बिन्दु अविभक्त ज्ञान रूप है। जगत् के सभी प्रकार के भेद अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के सम्पूर्ण भेदों के वाचक अ, उ और म ये तीन मात्राएँ हैं। इन तीनों को पिण्डित या मिलाकर एकाकार करने से ज्योतिर्मय ज्ञान का उदय होता है, उसी का नाम है बिन्दु। इसकी उपलब्धि भ्रूमध्य में होती है। इसके बाद मस्तक अर्थात् ललाट के अर्द्धचन्द्र स्थान में पहुँचने पर पूर्वोक्त वर्णोच्चार बिन्दु रूप से भी सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। बिन्दु अवस्था में विभिन्न ज्ञेयों का भेद विगलित होकर उनका अभिन्न ज्ञेय रूप में भान होता है, किन्तु उसमें ज्ञेयांश की प्रधानता रहती है, ज्ञानांश की नहीं।

किन्तु अर्धचन्द्र में ज्ञानांश की वृद्धि के कारण ज्ञेयांश का प्राधान्य कम होने लगता है। इसके बाद जब उच्चार निरोधिका अवस्था में पहुँचता है तब ज्ञेयभाव का प्राधान्य बिलकुल निवृत्त हो जाता है और परिस्फुट रेखा के रूप में ऊर्ध्वोन्मुख प्रतीत होने लगता है। इसी रेखा से नाद में प्रवेश होता है, किन्तु यह अयोगी के लिए नादमार्ग का रोधक है। इसीलिए इसका नाम 'निरोधिका' है। इसके बाद वर्णोच्चार नाद और नादान्त भूमि को ग्रहण करता है। यह ईश्वरपद है—यहाँ ज्ञेयभाव अभिभूत रहता है और विभिन्न वाचक शब्दों का अभेद ज्ञान प्रधानतया स्फुरित होता है। स्मरण रहे कि वाच्यों का अभेद बिन्दु में होता है एवं वाचकों का अभेद नाद और नादान्त में होता है। इसके बाद प्राण ब्रह्मरन्ध्र या शक्तिस्थान में एक प्रकार का दिव्यस्पर्श अनुभव करते हुए कौशलपूर्वक ऊर्ध्व में प्रवेश करता है और

१. यह विश्वगर्भा कुण्डलिनी-शक्ति सोये हुए सर्प के समान है। यह स्वभावत: अपने नादमय या विमर्शमय रूप त्यागकर प्राणात्मक रूप लिये हुए है।

व्यापिनी में व्यापकत्व प्राप्त करता है। त्वचा के साथ जहाँ केशों का सम्पर्क है, वहीं व्यापिनी का अनुभव स्थान है। इसके बाद समनापद अर्थात् शिखा के साथ केशों के सम्बन्ध स्थान में वह विशुद्ध मनन रूप में स्थित होता है। यह मन्तव्यहीन मनन अथवा विशुद्ध मन की अवस्था है। प्राणात्मक हंस जब इसका अतिक्रम करता है तब शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकाशमान होता है। इसका स्वभाव है मन का उल्लंघन, अर्थात् समना तक ज्ञानक्रियादि क्रमयुक्त, समना के ऊपर जब शुद्ध आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त होता है तब वह क्रम का लंघन करता है। उस समय एक ही साथ समग्र विश्व का अभेद प्रकाशित हो जाता है। यह अभेद प्रकाश उन्मनाशक्ति का व्यापार है। उन्मना शक्ति के आश्रय से शुद्ध आत्मा परमेश्वर अवस्था को प्राप्त होता है, अर्थात् चिदानन्दमय परमशिव के साथ आत्मा का अभेद सम्पन्न होता है।

इस प्रकार शिवत्व लाभ के कारण प्राणात्मक संचारहीन हो जाता है। प्राण का संकोच और प्रसारण फिर नहीं रहता। वह व्यापक होता है—छत्तीस तत्त्वमय समग्र विश्व रूप में और साथ ही साथ विश्वातीत रूप में स्फुरित होता है।

अब वर्णों के कारणत्याग के बारे में कहना चाहूँगा। निवृत्ति आदि कला के अधिष्ठाता हृदयादि प्रदेश से ब्रह्मादि देवगण के साथ निष्कल मंत्रों के अवयव अकारादि वर्णों का वाच्य वाचक सम्बन्ध है।[१]

ये सभी वर्ण छह कारणात्मक देवताओं का उल्लंघन करके परावाक्स्वरूप में सर्वकारण के कारण परमेश्वर के स्वरूप में लीन होते हैं। इनमें से प्रथम तीन भूमियों में वाच्य और वाचक परस्पर भिन्न या पृथक् रहते हैं, किन्तु बिन्दु में तथा उसके ऊपर उनमें कोई भेद नहीं रहता। अ, उ, म क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के वाचक होने पर साक्षात् रूप से ब्रह्मादि के रूप में वर्णित नहीं हो सकते, किन्तु बिन्दु साक्षात् ईश्वरस्वरूप है। उसी प्रकार नाद स्वयं सदाशिव रूप एवं समना तक शक्ति आदि स्वयं शिवतत्त्व है, यह कहा जा सकता है। समना का लंघन होने पर योगी शुद्ध आत्मरूप में प्रतिष्ठित होता है। वास्तव में उन्मना का त्याग नहीं होता—उन्मना के आश्रय में परमशिव भाव की प्राप्ति ही उन्मना के त्यागरूप में वर्णित है।

---

१. ब्रह्मा का स्थान हृदय है, विष्णु का कण्ठ और रुद्र का तालुमध्य है। बिन्दुस्वरूप ईश्वर का स्थान भ्रूमध्य, नादात्मक सदाशिव का स्थान ललाट से मूर्धा तक और शिव की अंगभूता शक्ति व्यापिनी और समना का स्थान मूर्धा के मध्य से क्रमशः ऊपर-ऊपर की ओर है। बिन्दु अर्धचन्द्र और निरोधिका तक व्याप्त है। नाद की व्याप्ति नादान्त तक है। आनन्दमयी स्पर्शानुभूति के अन्त में शक्ति का त्याग होता है। उसी प्रकार निर्विषयक मननमात्र का अनुभव होने के बाद समना का त्याग हो जाता है।

भाव में आपेक्षिक स्थूलता और सूक्ष्मता दिखाई देती है। आरोहण के क्रम से चरम अवस्था में परमसूक्ष्मभाव की प्राप्ति होती है। भावों की इस परावस्था को परासत्ता कहा गया है। सर्वकारणभूत परमेश्वर में ही इस आत्यन्तिक सूक्ष्मता का विश्राम होता है। उसके अखण्डभाव होने के कारण अनन्त खण्ड कारणों का अभाव रूप है। इसीलिए कहीं-कहीं उसे 'अभाव' या 'असत्' भी कहा गया है। समना सभी उपाधियों से अतीत है, इसलिए उसे अलक्ष्य कहा गया है—वह इन्द्रिय और मन के व्यापार से अतीत है। द्रष्टा-मात्र होने के कारण उसमें दृश्यात्मक कोई भाव नहीं है। वास्तव में वह व्यापार में अभाव-पदवाच्य होने पर भी चिदानन्दघन परमसत्ता है। उसकी प्राप्ति ही मोक्ष है। इस परमभाव की तुलना में उन्मना शक्ति को भी अपरभाव कहा जा सकता है। यद्यपि उन्मना परमेश्वर की समवायिनी शक्ति है, तथापि यह आत्मविमर्शरूपा होने के कारण अपरभाव है, परभाव नहीं। उन्मना की तुलना में समना अपरभाव है, क्योंकि उन्मना व्यापक और समना उसका व्याप्य है। वास्तव में समना उन्मना से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार व्यापिनी समना का अपरभाव है। व्यापिनी सब भावों को अपने में धारण करने के कारण महाशून्य पदवाच्य है। समना भी शून्य है, किन्तु वह व्यापिनी की परावस्था है, क्योंकि महाशून्य का अतिक्रम करने पर ही समना की सत्ता मिलती है। व्यापिनी का अपरभाव शक्ति है—यह आनन्दरूपा स्पर्शानुभूतिमयी है। इस आनन्दानुभव को पार करने पर व्यापिनी का अनुभव सम्भव होता है। स्पर्शरूपा शक्ति का अपरभाव नादान्तव्यापी नाद है। इसका अनुभव योगी को शब्दरूप में, स्पष्ट भाव में अनुभूति होती है। यहाँ कहना अनावश्यक है कि शब्दानुभाव निवृत्त होने पर ही स्पर्शानुभव आनन्दरूप में लक्षित होता है। नाद का अपरभाव बिन्दुरूपा ज्योति है, जिसकी अर्धचन्द्र और निरोधिका तक व्याप्ति है। ज्योति का अपरभाव मंत्र है। अकार, उकार और मकार रूप में वर्ण-परामर्श ही मंत्र है। यहाँ अर्थवाचक मंत्र समझना चाहिए। मंत्र का अपरभाव पृथक्भूत वाच्य अथवा कारणवर्ग है—अर्थात् रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा है। इन ब्रह्मादि कारणत्रय का अक्रभाव है भुवन। भुवन सबसे अधिक स्थूल है। इसके बाद अन्य अपरभाव नहीं है।

भावों का यह परत्व—अपरत्व आपेक्षिक दृष्टि से सूक्ष्मता और स्थूलता का नामान्तर है। सारा भुवन ही पंचभूतों का नामान्तर है। जितने भुवन माया विद्या आदि पदों में विद्यमान हैं, वह सब सूक्ष्मतत्त्व से रचे हुए हैं, किन्तु अधोदेशवर्ती भुवन स्थूलभूतों से बने हैं। सभी भुवन अपने-अपने कारणों से अधिष्ठित हैं। वास्तव में ये सभी शिव के ही स्थूल या अपर रूपों के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार साकार रूपों के ध्यान से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष केवल परम या चिन्मयरूप के ध्यान से ही मिल सकता है। यह

योगियों के लिए सम्भव है। योगी भगवान् के भुवनादि साकार रूपों को भी चिदानन्दमय शिव स्वरूप में ही ध्यान करते हैं, साकार भाव में नहीं करते।

परमेश्वर के छह प्रकार के स्थूल रूप हैं।

(१) भुवन—इसके चिन्तन से भुवनेश्वरत्व की प्राप्ति होती है।

(२) विग्रह—ब्रह्मादि कारण देवताओं के विग्रह का चिन्तन करने से तद्रूपता की प्राप्ति होती है।

(३) ज्योति अथवा बिन्दु—इसके ध्यान से योगसिद्धि होती है, त्रिकाल-ज्ञान होता है तथा योग के प्रकार्य के कारण ज्योति के साथ तन्मयता की प्राप्ति होती है एवं श्रेष्ठ योगी पद पर प्रतिष्ठा होती है।

(४) व्यापिनी या आकाश—इसके ध्यान से शून्यात्म भाव उदय होकर बिन्दुत्व की उत्पत्ति होती है।

(५) नाद अथवा शब्द—इसके ध्यान से शब्दात्म भाव होता है और समस्त वाङ्मयों पर अधिकार होता है।

(६) मंत्र—जप, होम या अर्चना के द्वारा इसकी आराधना से मंत्र-सिद्धि होती है।

किन्तु मोक्ष-प्राप्ति होती है परमशिव के ध्यान से। परमशिव द्रष्टा होने के कारण उनका ध्यान दृश्य रूप में नहीं किया जा सकता। उन्हें परमसत्तात्मक चिद्रूप में भावना करनी पड़ती है। सदाशिव से पृथ्वी तक समस्त भावों का निरालम्बन करना ही उनकी भावना है। ये समस्त भाव जिस समय प्रशान्तरूप या अरूप होकर शक्तिधाम में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं तभी शक्तिमय हो जाते हैं। इसी का नाम भाव समूह की अवलम्बनशून्यता अथवा चित्तत्त्व की भावना है। इसके परिणाम में उपाधिहीन परमतत्त्व की प्राप्ति होती है, यही है कारणत्याग का रहस्य।

इसके बाद होता है—कालत्याग। सभी अध्वाओं का काल में प्रतिष्ठित रहने के कारण समझना पड़ता है कि देश और काल दोनों की भित्ति प्राण है। आकारों की विभिन्नता के कारण जैसे देशाध्वार विभाग या देशक्रम का आभास होता है, उसी प्रकार क्रिया की वैचित्र्यता के कारण कालाध्वार विभाग कालक्रम का आविर्भाव होता है। प्राण परमेश्वर की शक्ति है। इसीलिए अन्त में सभी अध्वा चित्स्वरूप में विश्रान्त हैं। अतएव अमूर्त, सर्वगामी और निष्क्रिय चैतन्य की मूर्ति और क्रिया के रूप में स्फूर्ति ही 'काल' के नामों से परिचित हैं। काल ईश्वर का विश्वविभासक क्रियाशक्तिमय रूप है। परमात्मा का यह नित्यरूपा माया प्रमाता की दृष्टि में कालतत्त्व है। जब तक काल को प्राण में लीन नहीं कर लिया जाता तब तक परमभाव में स्थिति असम्भव है। काल के प्रभाव से ही प्राण का उच्चार होता है, प्राण के उच्चार से मातृक या सभी वर्णों का उदय होता है। सभी वर्ण उदित

होकर विभिन्न वाचक शब्दों में व्याप्त होता है और वाचक वाच्य अर्थ में व्याप्त होता है। इसलिए जगत् के सभी पदार्थ काल की कलना के अधीन हैं।

तांत्रिक आचार्यों का कहना है कि परम प्रकाशरूप परमेश्वर अथवा व्यापक सत्ता की भित्ति में हृदय से द्वादशान्त तक होनेवाले प्राणसंचार में अर्थात् छत्तीस अंगुली परिमित प्रदेश में एक के बाद एक आठ भैरवों का उदय होता है। स्थूल प्राण सोलह तुटि में परिमित होने के कारण एक-एक भैरव दो-दो तुटि के आश्रय में कार्य करते हैं। अपान में भी यही होता है।[१]

अनुभव योग्य काल का आदि (सूक्ष्मतम) रूप तुटि और अन्त या महान् रूप हुआ महाकल्प। जिस महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा का अन्त हो जाता है, यह वह महाकल्प नहीं है। यह वही महाकल्प है, जिसके अन्त में सदाशिव का अन्त हो जाता है, अर्थात् परम महाकल्प। भूलोक, पितृलोक, देवलोकादि स्थानों के कालमान से ब्रह्मलोक के कालमान में जिस प्रकार का भेद है, उसी प्रकार ब्रह्मलोक के कालमान से सदा-शिवलोक के कालमान में भेद है। ब्रह्मा का लय होने पर भी सृष्टि का लय नहीं होता, क्योंकि उस समय ब्रह्मलोक के ऊपर की सृष्टि रह जाती है। सदाशिव सभी लोकों के ऊपर स्थित रहते हैं और सभी भुवनों के अधिष्ठाता हैं। इसलिए सदाशिव के लय होने पर सृष्टि का पूर्ण लय होता है—ऐसा कहा जा सकता है।[२] ब्रह्मा का संहार करनेवाला काल केवल एक कारण का उपसंहार करता है किन्तु सदाशिव का संहार करने वाला काल कारणों का उपसंहार करता है। जब यह काल ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन पाँच अधिष्ठाताओं के साथ इनके भुवनों को ग्रास करके शक्ति में अनुप्रविष्ट हो जाता है, तब उसे शान्ति मिलती है।

शक्ति के मस्तक में स्थित इस काल को अर्थात् परम महाकल्प को अपरकाल कहा जाता है। तांत्रिक परिभाषा में तुटि से गणना के आधार पर षोड़श संख्या काल कहा जाता है।[३] इसीलिए कभी-कभी इसे केवल 'षोड़श' कहा जाता है। व्यापिनी में जो साम्यसंगक काल है, वह पूर्वोक्त अपरकाल का अंगीस्वरूप परमकाल है। यही

---

१. ये सभी तुटियाँ काल की करण हैं। ये प्राण को क्षुब्ध कर काल को उद्‌बुद्ध करती हैं। दो क्षण में एक तुटि होती है। क्षण सूक्ष्म और स्फुट अनुभव के योग्य न होने के कारण तुटि से काल की आदिगणना होती है। इसका तात्पर्य यह है कि तुटि से न्यून काल का भान नहीं होता।

२. सदाशिव तक विश्व की व्याप्ति है। अतः सदाशिव के लय के साथ ही शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार के अध्वाओं का लय होता है। यही वास्तव में महाप्रलय है, किन्तु इस उपसंहृत विश्व की मूलभूता अरूपाशक्ति तब भी रहती है। अतएव समना भूमि में जब इसका उपशम होता है, तभी प्रकृत महाप्रलय कहा जा सकता है।

३. तुटि से कालसंख्या इस प्रकार हैं—१. तुटि, २. लव, ३. निमेष, ४. काष्ठा, ५. कला, ६. मुहूर्त, ७. अहोरात्र, ८. पक्ष, ९. मास, १०. ऋतु, ११. अयन, १२. वत्सर, १३. युग, १४. मन्वन्तर, १५. कल्प, १६. महाकल्प।

'सप्तदश' काल है। समना में यह भी नहीं रहता। वहाँ के काल का नाम 'काल विषुवत्' है—यह परात्पर अथवा परार्धकाल है। संख्याक्रम से यह अष्टादश है, यह सभी कालों का अवयवी है। इसके बाद और काल नहीं है। जो कुछ है—वह नित्योदित और परार्ध तक सभी कालों का व्यापक है। उन्मना अवस्था के अन्त में जब शक्ति और शक्तिमान के अनुभव में अद्वय-भाव का आविर्भाव होता है, तब इसके साथ उस नित्य काल का अभिन्न रूप में साक्षात्कार होता है।

वहाँ काल नहीं है। एकमात्र प्राणोच्चार के द्वारा इस परार्ध तक विस्तृत बाह्यकाल को शान्त करने के बाद कालातीत पद में स्थिति प्राप्त होती है।[१]

शून्य के प्रशमन के लिए ज्ञान अपेक्षित है। परमशिव ही परमशून्यपद हैं। अन्यान्य शून्यों को जानकर उनका त्याग करने से इसकी प्राप्ति होती है। तांत्रिक-सम्मत सात शून्यों में से छह का त्याग करके सप्तम शून्य में लय की प्राप्ति होती है। यही परमपद है। यह अवस्थाहीन[२] चिद्रूप सत्ता-मात्र है। इसके प्रकाश से सभी भाव और अभाव प्रकाशित होते हैं। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। यह लोकोत्तर स्थिति वस्तुतः शून्य या अभाव नहीं है। केवल प्रमोदादि प्रपंच या भाव से मुक्त होने के कारण इसे शून्य कहा गया है।

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव गताः।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥

सभी प्रकार के भेदों का उपशम हो जाने के कारण यह पद परमस्थिर और विश्वातीत है, किन्तु साथ ही साथ वह विश्वमय भी है। क्योंकि यह सत्तामात्र-रूपी शून्य सब भावों को तिल-तिल में, अंश-अंश में व्याप्त करता रहता है। व्यापक ही व्याप्य रूप में स्फुरित हो रहा है—व्याप्य उससे अलग कोई चीज नहीं है। एक मात्र महाप्रकाश ही स्थूल उपाधि के सम्बन्ध से स्थूल होता है अर्थात् अपने स्वातंत्र्य-बल से वह स्थूल आभास रूप में भासित होता है एवं स्थूल कहा जाता है। वही एक ही वस्तु सूक्ष्मरूप में स्थित है। जिस महायोगी का बोध यहाँ तक आरूढ़ हुआ है, वह दृढ़ प्रतिपत्ति के द्वारा उसका अवलम्बन करके तन्मय हो जाता है।[३] जिन शून्यों का त्याग करना पड़ता है, उनके नाम यों हैं—

---

१. यह जो कालत्याग की बात कही गयी, इसे वाच्य देवता का अवधिभूत बाह्यकाल समझना होगा। यह बाह्य तत्त्वगत विस्तारमय काल है। इसे प्रशान्त करने के लिए सूक्ष्म मंत्रकला के उच्चारकाल का आश्रय लेना आवश्यक है, अर्थात् बीज नष्ट हो जाने पर जैसे वृक्ष स्वयं ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्मकाल निवृत्त हो जाने पर स्थूलकाल स्वतः नष्ट हो जाता है।

२. उन्मना भी एक अवस्था है, क्योंकि यही परतत्त्व में प्रवेश करने का उपाय है, इसलिए विज्ञान भैरव में 'शैवो मुखमिहोच्यते' कहकर इसका वर्णन किया गया है।

३. निम्न अधिकारी को इस सूक्ष्म अर्थ में आस्वादन प्राप्ति न होने के कारण त्यागादि प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है।

१. अध:शून्य = हृदय, जिसमें प्रपंच का उदय नहीं हुआ है।

२. मध्यशून्य = कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट और ऊर्ध्वरन्ध्रस्थान—इनमें जब अपने से अधोवर्ती प्रमेयों का उपशम हो जाता है।

३. ऊर्ध्वशून्य = यह शक्तिमान है। यहाँ नादान्त तक सभी पाशों का क्षय होता है।

४-६. व्यापिनी, समना और उन्मना शून्य।

ये छह शून्य चल होने के कारण हेय हैं। परतत्त्व की तुलना में उन्मना में भी किंचित् चलत्व है। परतत्त्व या त्यक्तशून्य अचल होने के कारण उपादेय है। निम्नवर्ती सभी शून्यों के अधिष्ठाता और परमशिव हैं। इसलिए ये सब सम्यक् रूप से शुद्ध न होने पर भी तत्-तत् सिद्धियाँ प्रदान करने में समर्थ हैं।

●

उपसंहार

दीक्षा के बारे में सभी मुख्य बातें बता दी गयीं। मगर ऐसे अवान्तर विषयों का उल्लेख कलेवर की वृद्धि की आशंका से छोड़ दिया गया है। किसी-किसी ग्रन्थ में क्रियावती, वर्णात्मिका, कलावती और वेधमयी दीक्षा के बारे में चर्चा की गयी है (शारदातिलक, पंचम अध्याय)। क्रियावती दीक्षा बाह्य है। वर्णमयी दीक्षा के प्रभाव से शिष्य को दिव्यदेह की प्राप्ति होती है। गुरु शिष्य के तत्तत् स्थानों में सभी वर्णों का न्यास करते हैं, प्रतिलोम में संहार करते हैं। यही है—वर्णमयी दीक्षा। कलावती दीक्षा इससे भिन्न होती है। इसमें कला का उपयोग किया जाता है। वेधदीक्षा के तत्त्व इस प्रकार हैं—गुरु शिष्य के देह में मूलाधार के चतुर्दलकमल के त्रिकोण में, वलयत्रययुक्त तड़ितकोटिसमप्रभा चिदरूपा शैवीशक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करेंगे जैसे उक्त शक्ति षट्चक्र भेद करके मध्यमार्ग में परमशिव तक उत्थान कर रही है। साथ ही साथ मूलाधार के चारों वर्ण ब्रह्मा में उपसंहृत हो रहे हैं और ब्रह्मा षडदलमय स्वाधिष्ठान से युक्त हो रहे हैं। इसके बाद स्वाधिष्ठान के छहों वर्ण विष्णु में उपसंहृत हो रहे हैं और विष्णु दसदलमय नाभिकमल में युक्त हो रहे हैं। इसके अनन्तर मणिपुर के दसों वर्ण रुद्र में संहृत हो रहे हैं। इस प्रकार सब के अन्त में सदाशिव को 'ह-क्ष' मय द्विदल में युक्त करेंगे। बाद में उन दोनों वर्णों को बिन्दु में संहार करेंगे। बिन्दु ही शिव है तब अन्य कोई वर्ण नहीं है। बिन्दु का योग नाद में करेंगे, नाद को नादान्त में और नादान्त को उन्मनी में करेंगे। उन्मनी को गुरुवक्त्र में योग करेंगे। कला, नाद, नादान्त, उन्मनी और गुरुवक्त्र—यह सब भौहों के ऊपर चक्रसंस्थान में हैं। इसीलिए सहस्रार को कोई-कोई द्वादशान्त भी कहते हैं।

इस प्रकार शिष्य के जीवात्मा के साथ शक्ति को शिव में वेध करना चाहिए। शक्ति के बिना वेधक्रिया सम्पन्न नहीं होती। वेध के फलस्वरूप शिष्य छिन्नपाश होकर जमीन पर गिर पड़ता है, बाद में उसे दिव्यबोध की प्राप्ति होती है। फलतः 'तत्क्षणात्' शिष्य 'सर्ववित्' होता है—साक्षात् शिवभाव प्राप्त करता है।

किसी-किसी ने सहज, आगन्तुक और प्रासंगिक भेद से पाश का तीन प्रकार से वर्णन किया है (प्रयोगसार)। वेधदीक्षा के बारे में राघव भट्ट ने कहा है कि सोमानन्द ने वेध के द्वारा उत्पलाचार्य को शिवात्मक किया था। ऐसी प्रसिद्धि है। शारदा—तिलककार लक्ष्मण इन्हीं उत्पलाचार्य के शिष्य थे।

षड़न्वय महारत्न ग्रन्थ में आणवी दीक्षा के दस प्रकार के भेदों का वर्णन है। शाक्तयी दीक्षा अलग है, शाम्भवी दीक्षा भी अलग है। आणवी के दस भेदों के नाम हैं—स्मार्ती, मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पर्शिनी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिकी।[१]

मध्ययुग के बौद्धों में कोई-कोई दीक्षा के बारे में अपना अनुकूल मत पोषण नहीं करते थे। प्रसिद्ध है कि आचार्य धर्मकीर्ति ने दीक्षा के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये थे। यह भी प्रसिद्ध है कि इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ लिखा भी था। सुविख्यात् तांत्रिक आचार्य मेहपाल ने धर्मकीर्ति के मतों का खण्डन करते हुए एक ग्रन्थ लिखा था। खेद का विषय है कि जिस प्रकार धर्मकीर्ति का मूल ग्रन्थ नहीं मिलता, उसी प्रकार मेहपाल के प्रतिवाद वाला ग्रन्थ भी नहीं मिलता। (देखिये—लेखक की पुस्तक 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', पृष्ठ ४१।)

दीक्षा का फल

सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त होने पर जन्म निरोध होता है। उसी समय से कुण्डलिनी के विकास का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। कुण्डलिनी के जागरण से आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन होने पर जन्मान्तर नहीं होता। इसके पूर्व हो सकता

---

१. स्मार्ती = गुरु विदेश स्थित शिष्य को स्मरण करते हुए क्रमशः उसके पाशत्रय का विश्लेष करते हैं और लययोगांग के विधान से उसे परशिव में योजन करते हैं।

मानसी = शिष्य को अपने पास बैठाकर मन ही मन आलोचन के द्वारा उसका मलत्रय मोचन करना।

यौगी = योगोक्त क्रम से गुरु शिष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर उसकी आत्मा को अपनी आत्मा में युक्त करते हैं। यही है योगदीक्षा।

चाक्षुषी = 'शिवोहम्' भाव में समाविष्ट होकर गुरु अपने शिष्य को करुणादृष्टि से देखते हैं। इसीलिए इसका नाम चाक्षुषी दीक्षा है।

स्पर्शनी = गुरु स्वयं परमशिव के रूप में बिना किसी संदेह के शिवहस्त से शिष्य के मस्तक को मंत्र के साथ स्पर्श करते हैं, इसलिए इसका ऐसा नाम है।

वाचिकी = गुरुवक्त्र को अपना वक्त्र समझते हुए श्रद्धा के साथ गुरुवक्त्र के प्रयोग के समय मंत्रादि देंगे। (मुद्रान्यासादि के साथ)

मान्त्रिकी = मन्त्रन्यासयुक्त अवस्था में गुरु स्वयं मंत्रतनु होकर मंत्रदान करेंगे।

हौत्री = कुण्ड या स्थण्डिल में अग्नि स्थापन करने के पश्चात् लय योग के क्रम से प्रत्येक अध्वा की शुद्धि के लिए होम करेंगे।

शास्त्री = योग्य भक्त शुश्रूष अर्चनशील शिष्य को शस्त्रदान करना। यह भी एक प्रकार की दीक्षा है।

अभिषेचिकी = शिव और शिवा का कुण्ड में पूजन करने पर शिव कुम्भाभिषेक दीक्षा सिद्ध होती है।

है, पर साधारण मनुष्य की तरह नहीं, अर्थात् दीक्षा के बाद कुण्डलिनी का जागरण या मंत्र का विकास आरम्भ होता है। यही उपासना का विकास है। मान लो जैसे—शिव मंत्र की साधना। मृत्यु के बाद साधक शिवलोक जायगा—कम से कम यही होगा। अगर और अच्छी साधना हो तो शिव-रूप प्राप्त करेगा। सत्सन्निधान में परिकर होगा (सामीप्य), शिव के समान शक्ति प्राप्त करेगा—अन्त में शिव के साथ तादात्म्य स्थापित करेगा। शिव = कार्य-ब्रह्म। शिव-तादात्म्य वास्तव में कार्य रक्षात्मकता है। यही शिवांग में लय होती है। इसी शिवलोक में अवस्थान करते समय उसका जन्म होता है—अधिक से अधिक तीन बार, यदि स्थूल देह के त्याग के पूर्व आत्मज्ञान प्राप्त न हुआ तो। अगर साधक का परिपाक अधिक रहेगा तो तदनुसार तीन बार न होकर दो बार या एक बार जन्म हो सकता है, किन्तु तीन बार से अधिक नहीं होगा। यह बात गुरुदत्त पर निर्भर करती है। यह हो सकता है कि जन्म न भी हो—यदि वह शिवलोक में अपनी साधना में उन्नति कर सके। शिवलोक से भी परब्रह्म या आत्मज्ञान प्राप्त करना सम्भव है; पर शिव का सायुज्य पाने के साथ-साथ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु ब्रह्मरूपता नहीं होती। वह महाप्रलय में होती है। जितने दिनों तक यह सृष्टि रहेगी, उतने दिनों तक साधक शिवात्मक होकर रहेगा—वह भी कार्यब्रह्म रूप में (शिवभाव में), अगर मर्त्यलोक में जन्म होता है और सद्‌गुरु मिल जाते हैं, तो यह देह ही परब्रह्मज्ञान और परब्रह्मरूपता हो सकती है। ऐसा होने पर उसे फिर देहान्त के बाद शिवलोक में जाना नहीं पड़ेगा।

अभी जिस शिवलोक के बारे में कहा गया, वह देवलोक का उपलक्षण है। निर्मल सत्त्व के तारतम्यानुसार लोकों में भी ऊर्ध्वाधो के भेद हैं। ये लोक दो प्रकार के हैं—निर्मल या शुद्ध सत्त्व का उन्मेष और विकास के क्रम के अनुसार नीचे से ऊपर तक विस्तृत होते हैं। सर्वोच्च जो लोक है, वह निर्मलतम सत्त्व का विकास है। यह चरम लोक साधकों के भावानुसार नाना प्रकार के हो सकते हैं। भावानुसार इन्हें कैलास, गोलक, बैकुण्ठ, देवीलोक आदि कहा जाता है। यह एक ही वस्तु का भावानुसार दर्शन है किन्तु पृथक् रूप में सभी लोकों का ऊपर-नीचे के भाव हैं। इस दृष्टि से शिवलोक और विष्णुलोक या अन्यलोक एक स्तर के नहीं हैं।

इसलिए देवता-उपासना की दो दिशाएँ हैं। सभी देवता एक स्तर के नहीं हैं। दूसरी ओर ब्रह्मदृष्टि से सभी देवता एक ही कार्य ब्रह्म भाव-भेद के अनुसार विभिन्न रूप में हैं। साधना के प्रारम्भ में ब्रह्मदृष्टि नहीं रहती। इसलिए भेद को मानते हुए साधना करनी चाहिए, परन्तु कोई कल्पना या भावना मानकर ब्रह्मदृष्टि करते हैं जो स्वाभाविक नहीं है। अकल्पित ब्रह्मदृष्टि के बारे में आगे कहूँगा।

बात को यहाँ साफ कर दे रहा हूँ।

सभी देवता में भावविशेष है। यह भाव किसी भी उपाय से क्यों न हो, शून्यमय होने पर ही वहाँ ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित होता है। कारण ब्रह्म से ही शून्य के भीतर तत्तत् भाव का आविर्भाव होता है। फलतः कुछ न करने पर भी विपरीत मुख को ओर सभी भाव धीरे-धीरे उपक्षीण होकर शून्य हो जाते हैं और ब्रह्मभाव का पुनरोदय अपने आप होता है। साधना के जरिये वह जल्द से जल्द हो सकता है। ब्रह्मतत्त्व की प्रतिष्ठा का अर्थ है—यह भाव भी ब्रह्म का ही भाव है।

उदाहरण के लिए शिव साधक को लें। यह साधना दो प्रकार की है। यह साकार ब्रह्म की उपासना है—देवताओं को लेकर हो सकता है या केवल देवता की उपासना हो सकती है।

(क) शिव को केवल एक देवता समझ कर उपासना करने से शिवलोक जाकर सारूप्यादि क्रम से शिव-सायुज्य होने पर भी जरा पर्दा रह जाता है। उन्हें ब्रह्मरूप में नहीं जान पात। शिव जब ब्रह्मरूप होते हैं तब ये भी ब्रह्मज्ञान पाकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं अथवा उसी शिवलोक में ही ये अपनी योग्यता के अनुसार शिव से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। इसके बाद शिव के साथ ब्रह्मरूपता प्राप्त करते हैं अथवा कोई-कोई पहले भी ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेते हैं।

(ख) शिव को कार्यब्रह्म मानकर उनकी उपासना की जा सकती है। यह दीक्षा काल की ब्रह्मज्ञान के बीज सहित शिवोपासना है। इसके फलस्वरूप इस देह में ब्रह्मज्ञान हो सकता है। अन्यथा देहान्त के बाद शिवलोक में गति होगी। वहाँ से ब्रह्मज्ञान की स्फूर्ति होकर भावातीत स्थिति प्राप्त की जा सकती है। वहाँ फिर ब्रह्मदीक्षा की आवश्यकता नहीं होती।

अभी जो दोनों ओर की बातें कही गयीं, वह ब्रह्मज्ञानी देवता की उपासना के बारे में है। सज्ञानराज्य में भी देवता हैं। उनकी उपासना क्षुद्र उपासना है।

पहले जो कुछ कहा गया, उसका तात्पर्य यह है—

देवता दो तरह के हैं—कोई ब्रह्मवित् है और कोई ब्रह्मवित् नहीं। ब्रह्मवित् देवताओं की उपासना दो तरह से की जाती है—ब्रह्मरूप में अथवा देवता रूप में। उसी प्रकार अब्रह्मवित् देवताओं की उपासना इसी तरह दो तरह की जाती है।

अब सवाल यह है कि साधक की दृष्टि के अनुसार फल होता है या उपास्य की शक्ति के अनुसार फल होता है? साधक ब्रह्मदृष्टि अगर न कर सका तो क्या ब्रह्मज्ञ देवता से साधक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है? नहीं, नहीं प्राप्त कर सकता? पक्षान्तर से साधक अगर ब्रह्मदृष्टि कर भी लेता है तो अब्रह्मज्ञ देवता क्या ब्रह्मज्ञान दे सकते हैं? सिद्धान्त यह है—दोनों के मूल में एक ही पूर्णब्रह्म है, इसलिए दोनों ही हो सकते हैं। अब्रह्मज्ञ देवता भी ब्रह्मदृष्टि के कारण द्रष्टा के निकट ब्रह्मरूप में प्रकाशित होते हैं और उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। दूसरी

ब्रह्मज्ञ देवता भी ब्रह्म दृष्टि के अभाव में साधक को ब्रह्मज्ञान नहीं देते।

साथ ही साथ यह भी सत्य है कि स्वतंत्र इच्छा या कृपा करने पर ब्रह्मज्ञ देवता साधक की ब्रह्मदृष्टि न रहने पर भी उसे खोल दे सकते हैं, किन्तु अब्रह्मज्ञ देवता स्वेच्छा से ऐसा नहीं कर सकते। असली बात यही है।

साधारण साधकों में ब्रह्मदृष्टि का रहना सम्भव नहीं है। अगर ब्रह्म ही लक्ष्य हो, मगर भाव के भीतर से जाना पड़े तो यह उपाय है—

(क) संस्कार के अनुरूप देवता की उपासना करना। ये ब्रह्मज्ञ देवता हैं। उद्देश्य—ऐश्वर्य सिद्धि, सुख भोग।

(ख) पहले न होने पर भी साधक समझ जाते हैं—उक्त देवता ब्रह्म के ही रूप हैं। यह सायुज्य या समाधि से होता है। उस वक्त सब कुछ ब्रह्मरूप समझ में आता है। उस वक्त की उपासना—ब्रह्मरूप की उपासना होती है। यद्यपि उस समय सब कुछ ब्रह्मरूप में दिखाई देता है, तथापि निष्ठा और स्थिति के लिए एक को पकड़ कर चलते हैं। कोई अनेक को पकड़कर चलते हैं। यह जो ब्रह्मदृष्टि है, वह कल्पित नहीं है। ब्रह्म-दर्शन के पूर्व जाग्रत् को ब्रह्मरूप में दर्शन करना असम्भव है, बाद में सम्भव होता है।

एक लोक से निकलकर दूसरे लोक में जाना पड़ता है अथवा एक लोक को भेद करके अन्य लोक में जाना पड़ता है। १ म लोक, २ य लोक, ३ य लोक— इत्यादि क्रमानुसार। इस स्थिति में प्रथम लोक का साधक अपने लोक के केन्द्र में जाकर देवता का सायुज्य या समाधि प्राप्त कर लेने पर उसे भेद कर सकता है— तब २ य लोक में प्रवेश कर सकता है। अगर १ म लोक से ३ य लोक में जाना हो तो—कारण साधक का संस्कार अगर ऐसा हो तो—१ म लोक से बाहर आकर पुनः दीक्षा के द्वारा ३ य लोक में प्रवेश करने का नियम है। यह दोनों अवस्थाओं में हो सकता है।

× × ×

बाह्य—ज्योति—रूप—शक्ति—भाव या सत्त्व—भावातीत ब्रह्म है। बाहर से केवल ज्योति का दर्शन होता है—रूपादि का नहीं, जैसे किसी एक की शिवमंत्र से दीक्षा हुई है। वह पहले (गोकि प्रबल पूर्व सुकृति न रहने पर) शिव की ज्योति-मात्र दर्शन करेगा। वही ज्योति ही शिवलोक है। अतएव ज्योतिदर्शन के माने— बाहर से शिवलोक का दर्शन हो रहा है। यद्यपि बाहर से हो रहा है, तथापि द्रष्टा में उक्त ज्योति किंचित् है, वर्ना दर्शन नहीं होता, (गोकि प्रतिबन्धक रहने पर देह को ज्योति दर्शन नहीं भी हो सकता है)।

उस ज्योति या लोक में स्थान पा जाने पर फिर ज्योति दर्शन नहीं होता, कारण उस वक्त स्वयं उसी ज्योति से ज्योतिर्मय रहते हैं। बराबर-बराबर—

इसीलिए दिखाई नहीं देती। तब ज्योतिर्मय होने के कारण रूप दर्शन होता है। शिव सालोक्य जिनका हुआ है, वे शिव ज्योतिर्मय हैं। उसका रूप उस वक्त भी मर्त्यलोक का अन्तिम रूप है। वहाँ जैसे गोपाल था—यहाँ भी उसी आकार में रहता है (दीक्षा के समय का आकार)। यह आकार तब तक बना रहता है, जब तक उसका शिवाकार नहीं हो जाता। उस ज्योति में शिव-रूप का प्रतिबिम्ब प्रारम्भ से पड़ने के कारण शिवाकार प्रारम्भ से जरूर होता है, पर प्राचीन आकार प्रबल रहने के कारण वह प्रकट नहीं होता। फिर क्रमशः प्राचीन आकार ज्योति में लीन हो जाता है तब शिवाकार प्रकट होता है। उस वक्त अपने को शिवाकार दिखाई देता है। अपने को शिवाकार दिखाई देने पर सामने का शिवाकार दिखाई नहीं देता। उस समय सामने एक शक्ति प्रत्यक्ष होती है—यह शैवी शक्ति होती है। उस शक्ति का बाह्य उन्मेष शिवरूप है। प्रत्येक देवता की शक्ति पृथक् होती है जैसे रूप पृथक् होता है। शिवरूपी साधक शैवी शक्ति का दर्शन करते-करते स्वयं शिवरूप अभिभूत हो जाता है—अपने में वह शक्ति आपूरित होती है। तब अपने को ही उसी रूप में देखा जाता है। उस समय सामने फिर शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। उस वक्त, अर्थात् स्वयं शिवशक्ति होकर वह देखता है—शिव के सत्त्व या भाव को, शिव की आत्मा को। यही शक्ति ही शिवात्मा देख पाती है—बाहर कोई नहीं देख पाता। देखते-देखते शक्ति (अर्थात्) साधक स्वयं शिव हो जाता है। यही है शिव सायुज्य। तब वह शिवात्मा को नहीं देख पाता। यही है शिवभाव में स्थिति। अगर ब्रह्मज्ञ गुरु की दीक्षा से शिवभाव में स्थिति होती है तो स्वयं शिव के साथ अभिन्न होकर अर्थात् शिव होकर पूर्णब्रह्म का दर्शन करता है।

अ-ब्रह्मज्ञ मगर शिवभाव में प्रविष्ट होते ही गुरु की दीक्षा के द्वारा शिव सालोक्य से सायुज्य तक हो सकता है, पर सायुज्य होने पर भी शिव के साथ एक व्यवधान रह जाता है। इसीलिए ब्रह्मज्ञान नहीं होता। समय पर सायुज्य पूर्ण होने के बाद शिव से ही ब्रह्मदीक्षा प्राप्त होती है, इसीलिए द्वितीय बार दीक्षा की आवश्यकता होती है।

देवता दो प्रकार के हैं—कोई ब्रह्मज्ञ है और कोई ब्रह्मज्ञ नहीं। पहले वाले देवता से दीक्षा होने पर भोग और मोक्ष दोनों सिद्ध होते हैं, दूसरे वाले देवता से दीक्षा होने पर केवल भोग और ऐश्वर्य सिद्ध होता है।

द्वितीय प्रकार दीक्षा में क्षुद्र देवलोक में पुनः दीक्षा ली जा सकती है। उससे ऊपर चढ़ा जा सकता है। वहाँ से भी और ऊपर—इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ देवता के लोक में जाने पर ब्रह्मदीक्षा का अवसर मिलता है, निम्न देवलोक में ब्रह्मज्ञ पुरुष नहीं हैं। इसीलिए वहाँ ब्रह्मदीक्षा के उपाय नहीं हैं।

पर यदि वह जन्म लेता है और मर्त्यलोक में आता है तो ब्रह्मज्ञान की दीक्षा हो सकती है, यह भी कहा नहीं जा सकता, पर सम्भावना जरूर है। कारण, मर्त्यलोक में ब्रह्मज्ञ पुरुष सर्वदा रहते हैं।

आत्मदर्शन न होने तक भगवान् की साधारण नजर नहीं पड़ती। पराभक्ति के उदय होने पर उनका विशेष दृष्टिपात होता है, पर कुण्डलिनी के चेतन भाव या दीक्षा के साथ-साथ उनकी शक्ति की नजर पड़ती है। पहले देवता की नजर पड़ती है, बाद में कुण्डलिनी के पूर्ण जागरण पर महामाया की नजर जाती है। जिनकी दीक्षा नहीं हुई है, वे देवता की दृष्टि से बाहर हैं। वे काल की दृष्टि में रहते हैं।

●

जपतत्त्व

वाचिक जप—अधम। कारण, तेजः बाह्यवायु के द्वारा बाहर फैल जाता है। अधिक संचित नहीं हो पाता। उपांशु जप कण्ठ जप—

मानस जप　　　　　　　　हृदय जप　　　　　　　　असंख्य जप

सभी जपों में वायु की क्रिया है। सूक्ष्म जप में वायु की क्रिया भी सूक्ष्म होती है। मानस जप या चिन्ता भी वायु की क्रिया से भिन्न नहीं होता। जहाँ क्रभ्र, वहीं वायु। आकाश में जो जप है, उसमें क्रम नहीं है अर्थात् क्रम एकत्वानुबिन्ध है। वह निरन्तर है। स्थूलाभिमान या बाह्यबोध रहते जप स्थूल और सूक्ष्माभिमान रहते जप सूक्ष्म होता है। स्थूल जप का सूक्ष्मत्व है और सूक्ष्म जप का भी स्थूल है।

मानस जप की परावस्था ही ध्यान है। मानस जप मनः तक। ध्यान बुद्धि में होता है। समाधि तक बुद्धि है। इसके बाद ज्ञान। जप करते-करते तेजः उत्पन्न होता है। वह अन्तर्दृष्टि के सामने दिखाई देता है।

संकल्प करने के बाद जप—संकल्प से सीमा (घेरा) का निर्माण होता है—आधार या पात्र तैयार होता है। जप से शक्ति का आकर्षण होता है। जप जनित आकृष्ट तेजः उसी घेरे में संचित होता है, बाहर नहीं निकलता। उक्त घेरा या आधार सत्त्व गुणमय है, इसलिए संकल्प के बिना सिद्धि नहीं होती।

कोई कहता है—प्रत्यक्ष दिखाने पर उनका विश्वास करूँगा। वे कहते हैं—विश्वास करने पर ही प्रत्यक्ष दिखाऊँगा। स्वीकार या तो वे स्वीकार (yield) करेंगे, वर्ना मैं स्वीकार (yield) करूँगा। जिसे गरज है वही स्वीकार (yield) करेगा। साधारण स्थिति में मनुष्य को ही स्वीकार (yield) करना उचित है क्योंकि गरज उसे है। फिर भगवान् की मर्यादा रखना उचित है। एक बार उन्हें बड़ा बनाने पर, अहेतुक उन पर विश्वास करने पर देखने में आयेगा कि विश्वास अनजस्टिफाइड नहीं है। फिर जब भगवान् को गरज है (जीव के प्राक्तन मर्मवश अथवा जगत् के काम के लिए) तब वे पहले प्रत्यक्ष करें। पहले विश्वास का दावा नहीं करना चाहिए।

इन्द्रियों के प्रत्याहार से सब नहीं होता। अगर गुरु ने ज्ञान बीज दिया है तो स्थूलजगत् पार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। सत्यज्ञान के क्षेत्र में आने पर इन्द्रियाँ एकाग्र होकर ज्योंही निरुद्ध होंगी, त्योंही एक ओर जिस प्रकार स्वयं ज्ञानदेही रूप में आविर्भूत होती हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर विराट् ज्ञान के

प्रकाश में प्रतिभासमय जगत् प्रकाशित होता है। सभी जगह जन्म-मृत्यु के खेल हैं। ज्ञान जगत् में प्रविष्ट होने पर जन्म-मृत्यु कट जाता है। ज्ञानदेही कौन है? जब आत्मा इन्द्रियहीन मन में अधिष्ठित होकर भी अभिमान करती है, तब ज्ञानदेही कहा जाता है।

(परमार्थ प्रसंग—प्रथम खण्ड)

दिनांक १८.१०.६७, सायंकाल
सिगरा भवन, आचार्यजी का कक्ष

जगदीश दादा का प्रश्न : "आपने कहा है कि ग्रहण के समय दीक्षा होने पर दीक्षा और भी जोरदार होती है।" इसका कारण क्या है?

उत्तर : दीक्षा के लिए काल-स्थान की महिमा जरूर है, किन्तु असली बात है उनकी महाकृपा। उस कृपा को पाने पर अन्य कुछ की जरूरत नहीं होती। विवाहित जीवन में भी भगवान् की प्राप्ति के लिए विवाह के अव्यवहित के बाद दीक्षा ग्रहण की व्यवस्था पहले थी, ताकि दोनों एकसाथ अध्यात्मजीवन में अग्रसर हो सकें।

दिनांक ३०.१०.६८, सायंकाल ६.३० बजे
सिगरा भवन।

शक्तिपात और दीक्षातत्त्व के बारे में समझाते हुए आपने कहा—शक्तिपात है इच्छाशक्ति और दीक्षा है क्रियाशक्ति। उपमा देते हुए उन्होंने कहा—मेरी इच्छा हुई कि आज पिट्ठी खाऊँगा। इसके बाद उस इच्छा को रूप देने के लिये घर के लोग (सीताराम, मंजु, महराजिन) मिलकर पिट्ठी बनाने लगे। यही इच्छाशक्ति है। शक्तिपात और इच्छा को रूप देने के लिए जो क्रिया हुई, वही है क्रियाशक्ति।

बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा—दीक्षा को लेकर एक बड़ा काम किया जा सकता है। दीक्षा के समय गुरु क्या देखते हैं? कुछ देर तक लोगों के जवाब की प्रतीक्षा करने के बाद उन्होंने कहा—प्रत्येक व्यक्ति का 'अहं'—'अ' से 'ह' तक वर्णमाला की ५० मातृकाओं द्वारा घटित है, किन्तु उस वर्णमाला का जो आदर्श संगठन है, उससे कुछ कम बेशी रहता है, जैसे 'च' का ५ रहना चाहिए, पर है ९, और छ: का ६ रहना चाहिए, पर है ४; जैसा जिस वर्णमाला का जितना प्रयोजन है, उतना ही सामरस्य की प्रतिष्ठा करना ही दीक्षा का उद्‌देश्य है। सद्‌गुरु आलिंगन के समय उतना ही सामरस्य की स्थापना कर देते हैं। इसके बाद शायद उस व्यक्ति के जागतिक जीवन के आचार-व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु गुरु उसे भगवद् उन्मुख कर देते हैं। अगर वे साधक हुए तो साधना के द्वारा इसी जीवन में परमवस्तु प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो सकते हैं, वर्ना देहत्याग के बाद

उनकी मुक्ति अवश्य होगी। इस सामरस्य स्थापना के समय भी वैयक्तिक स्वातन्त्र्य रहता है। जैसे वैद्यगी इलाज में वैद्य रोगी की वायु, कफ, पित्त का सामरस्य देखते हैं। अगर सामरस्य न रहे तो सामरस्य लाने के लिए दवा देते हैं—पूर्णरूप से रोग-निवारण के लिए।

पूर्व के तीन जन्मों के संस्कारों का सापेक्ष रूप में परिदर्शन करने के बाद साधन-जीवन की धारा को खोजना पड़ता है। साधना सोलह आने पूर्ण होने पर ही परम लक्ष्य में पहुँचना अवश्यम्भावी है। जिस मार्ग में साधक को अधिक परिश्रम करना पड़ता है एवं उसके लिए साधन-संस्कार अधिक मौजूद रहता है, वही मार्ग वर्तमान में उक्त साधक के लिए अवलम्बनीय है। इससे परिश्रम अनेक लाघव हो जाता है तथा पूर्वजन्म के कृत कर्म वर्तमान में फलप्राप्ति में सहायक होते हैं।

वास्तव में यह एक स्थूल व्यापार है। पिछले तीन जन्मों की बात दूर रही, इस प्रकार के सहस्रों जन्मों के बारे में विचार करने पर भी वास्तविक मार्ग का पता नहीं चलता। उक्त तीन जन्म वस्तुतः एक जन्म का ही त्रिविध विलास-मात्र है। स्थूल देह धारण करना ही स्थूल जगत् में अर्थात् भौतिक स्तर में प्रवेश करने का चिह्नस्वरूप है। स्थूल देह कब धारण ग्रहण किया गया था, इसका इतिहास कोई बता नहीं सकता। स्थूल जात होता है; मृत होता है—इस प्रकार जन्म-मृत्यु कितने बार हो गया है, उसका पता कोई नहीं जानता। काल के जगत् में चले आना, जन्म-मृत्यु के अधीन होना है, किन्तु इस स्थूल देह में प्रवेश कहाँ से हुआ है, इसे जानना जरूरी है। अगर यह पता लग जाय तो वहाँ से और ऊपर उठकर पता लगाना पड़ेगा कि मौलिक आवरण सर्वप्रथम किस सूत्र से चैतन्य को ग्रास करता है।

श्री श्री गुरुदेव ने अपने प्रकृति तत्त्व में कहा है—"स्वभाव की धारा त्रिधा सृष्टि करना।" यह जो त्रिविध सृष्टि है, यही वास्तव में आत्मा के तीन जन्म हैं। इन तीन जन्मों का विवरण निपुण दृष्टि से न देख सकने पर इस मायिक जगत् से परम स्थान तक पहुँचने की धारा का पता नहीं लग सकता। परम पथ का आविष्कार करना ही दीक्षा का उद्देश्य है। इन तीन जन्मों के भीतर से अर्थात् इस त्रिविध स्तर को भेद करके ही यह पथ प्रसारित हुआ है। किसी साधक की प्रकृति का निर्णय करके पहले उसके मायिक देह, महामायिक देह एवं चिन्मय देह की प्रकृति से परिचित होना आवश्यक है।

विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में निराकरण और निर्मल चिदवस्तु है। जब सृष्टि के मुँह से वह काल के राज्य में आता है तब उसे प्रकृति के विभिन्न स्तरों को भेद करके आना पड़ता है। सर्वप्रथम चित्स्वरूप से चित्शक्ति करके जो संकुचित उन्मेष होता है, जिसे चिदाणु के नाम से वर्णन किया जा सकता है, वही चिन्मयी शक्ति भीतर प्रविष्ट होने पर, चिदाकार का एक स्वच्छ आवरण उससे युक्त हो

जाता है। यही चिन्मयी शक्ति के आवरण में आवृत्त चिदाणु है। यही अपरिच्छिन्न या पूर्ण 'अहम्' का प्रथम प्रतिबिम्ब है। यही आत्मा का प्रथम देह है। यह देह साक्षात्भाव से काल के राज्य में नहीं आता। यही विशुद्ध अचित् अथवा महामाया के गर्भ में प्रविष्ट होता है। महामाया अपने उपादानों के द्वारा इसका वेष्टन कर इसके अपर द्वितीय आवरण की सृष्टि करती है। इसके बाद चिन्मय और शुद्ध अचिन्मय इस द्विविध आवरण विशिष्ट चिदणु मायागर्भ में प्रवेश करता है। मायागर्भ में प्रवेश करने के कारण मायिक उपादान उसे वेष्टन करते हैं—यही है त्रिविध आवरण। इस मायिक आवरण तक जो तीन आवरणों की प्राप्ति होती है, उन्हीं का चिदणु के द्विविध देह के रूप में वर्णन किया जाता है। एक-एक प्रकार के आवरण पाने को एक-एक प्रकार का जन्म-लाभ कहा जा सकता है; अतएव तीन प्रकार की आवरण प्राप्ति होती है, फलतः यही त्रिविध जन्मों के द्योतक हैं। माया के आवरण में आवृत्त होकर जीव कालरात्रि के राज्य में आता है। हमलोग जिस स्थूल देह को देखते हैं, वह काल का देह है। यह परिणामशील और क्षयप्रधान है। यह देह जब तक आरोह क्रम के आधार पर पूर्व प्रकृति के स्तर तक उठ नहीं सकता, तब तक जीव परम स्वरूप में उपनीत नहीं हो सकता।

काल का देह दीक्षा के लिए अगर संस्कार प्राप्त न कर सका एवं मूल स्थान में वापस लौटने का मार्ग न पा सका तो वह असंख्य बार काल के आवर्त्त में चक्कर काटता रहता है। इस आवर्त्त से छुटकारा पाने के लिए इसे वापस लौटने वाला रास्ता जानना आवश्यक है। इस प्रसंग में तीन पूर्वजन्मों के प्रश्न योगों के विचार-मार्ग में उत्पन्न होते हैं। काल से बाहर निकलने के लिए सर्वप्रथम मायिक देह को भेद करना आवश्यक है। मायिक देह के बिना काल के राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता। अतएव वापसी के समय काल के राज्य से माया गर्भ में प्रथम प्रवेश करना पड़ता है। यही विपरीत गति है। जिस प्रकार मायिक उपादानों से साधक का अपना मायादेह गठित है, उसी प्रकार अनुरूप मार्ग के सहारे उसे माया बाहर निकलना पड़ेगा। कारण, सभी मार्ग सभी के लिए नहीं हैं। माया से निकलकर मायातीत अवस्था में स्थिति लेने पर परमस्थान में जाना सम्भव नहीं होता। अतएव माया से बाहर जाकर भी निश्चिंत होकर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। उस समय जिस महामाया के गर्भ से बाहर आकर मायिक देह ग्रहण करना पड़ा था, पुनः उसी महामाया के गर्भ में प्रवेश करना पड़ता है। इसके बाद महामाया के गर्भ से निकलकर चित्शक्ति में प्रवेश करना पड़ता है। कारण, चित्शक्ति से ही चिन्मय आवरण से आवृत्त होकर जीव महामाया के गर्भ में प्रवेश कर सका था। इसीलिए वापस के समय पुनः चित्शक्ति के गर्भ में प्रवेश करके वहाँ से निकलना आवश्यक है। तब अपने विशुद्ध चित्स्वरूप की प्राप्ति होती है।

जितने आवरण जीव को प्राप्त होते हैं, उतनी कर्मभूमि की रचना होती है। अनावृत्त चित्स्वरूप के कर्मों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उतरते समय एक-एक आवरण ग्रहण करना पड़ता है, पुनः वापस लौटते समय उस आवरण को कर्म के द्वारा काया में परिणत करके चैतन्य के साथ उक्त काया का अभेद सम्पन्न करना पड़ता है। तदनुसार आरोह क्रम में सर्वप्रथम मायिक देह का कार्य होता है। शरीर कर्म के लिए है। शरीरोपयोगी कर्म न होने पर उस शरीर के धारणा करने की सार्थकता नहीं होती। मायिक शरीर का कर्म पूर्ण होने पर जीव माया के अतीत हो जाता है और उसकी आत्मसत्ता जाग्रद्भाव में माया को अधिष्ठान करती है। ऐश्वर्य का यही प्रथम अंग है। महामाया के शरीर में महामाया के आवरण हैं। इसलिए तदनुरूप कर्म भी है। उन कर्मों को पूर्ण न करने तक महामाया का शरीर अनिवार्य है, किन्तु उक्त कर्मों के पूर्ण होने पर महामाया का स्तर भी भेद हो जाता है। उस वक्त योगी महामाया से निकलकर महामाया का अधिष्ठाता हो जाता है। चरम अवस्था में, चिन्मय शरीर में भी उसी के अनुरूप कार्य हैं। यह सम्पन्न होने पर योगी चिन्मयी शक्ति का अतीत होकर चिन्मयी-शक्ति को भी अपनी शक्ति के रूप में धारण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार विविध शक्तियाँ उसकी अपनी शक्ति के रूप में परिणत हो जाती हैं। जीव अपने साथ तीन आवरण लेकर आता है, इसलिए योग-मार्ग से लौटते समय इस त्रिशक्ति के अधिपति के रूप में त्रिकोण के मध्य बिन्दु में अपना स्थान प्राप्त करता है। दीक्षा के समय सद्गुरु जब तीन जन्मों का विचार करते हैं, तब वास्तव में इसी तीन जन्म पर ही विचार करते हैं। कारण, चिन्मय या अखण्ड सत्ता तक मार्ग का निर्देशन करना आवश्यक है। केवल काल राज्य के स्थूल उपादानों के तीन प्राक्तन जन्मों के विचार अखण्ड चैतन्य तक मध्यवर्ती विश्व प्रकृति के अन्तःस्थित दीक्षार्थी की व्यक्ति धारा निरूपित नहीं हो सकता। प्रत्येक प्रकृति से ही आकृति का गठन होता है और उस आकृति के द्वारा अपनी प्रकृति के अनुरूप कर्मों का निर्देश होता है। दीक्षाकाल में दीक्षार्थी गुरुदत्त काया प्राप्त करते हैं। इस काया में दीक्षार्थी की मायिक, महामायिक एवं चिन्मय काया अविभक्ति में रहती हैं। कर्म साधन यथा नियम से सम्पन्न होने पर सभी आकृति और प्रकृति कार्य समाहित होते हैं। उस समय निज धाम में स्थिति लाभ की योग्यता पैदा होती है। स्थूल रूप में तीन जन्मों का विचार साधारण अवस्था में उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु चरम मीमांसा इससे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तीन जन्मों का सूक्ष्म रहस्य साधक के लिए बोधगम्य न होने के कारण वे साधारणतया स्थूल भाव में व्याख्या करते थे। वास्तव में इस रहस्य को समझ लेने पर जन्मान्तर तत्त्व को समझने में आसानी होती है।

●

गुरु स्वरूप और प्रयोजनीयता

सत्शिष्य होने पर सद्गुरु स्वयं ही आ जायँगे। सत्शिष्य=जिसमें पूर्ण विश्वास है, जिसमें संशय नहीं है, जो श्रद्धालु है—स्वभाव से श्रद्धालु, बाह्यगुण या विभूति के लिए श्रद्धालु नहीं। सद्गुरु होने पर सत्शिष्य अपने आप होंगे। शिष्य के सभी दोष कट जायँगे, यहाँ तक कि अविश्वास भी। सद्गुरु=पूर्ण ब्रह्मज्ञ, जो सामान्य और विशेष ज्ञानवान हैं, जिसमें सामान्य दया और विशेष दया दोनों ही है। जो सर्वशक्तिमान हैं। सद्गुरु और सत्शिष्य में स्वाभाविक सम्बन्ध है।

गुरुभाव का क्रमोत्कर्ष

गुरुत्व	१ — ४	कला।	सामान्य कृपा।	supplemented by	शिष्य का	कर्म	विशेष
''	५ — ८	''।	'' ''।	''	''	''	''
''	९ — १२	''।	'' ''।	''	''	''	''
''	१३ — १६		विशेष कृपा।	''	''	''	''
''	१६= सद्गुरु		शिष्य के कर्म = ०				

सद्गुरु के भावों के स्फुरण में अपेक्षित = शिष्य का आत्मसमर्पण। शिष्य के लिए कुछ करना नहीं रहता। गुरु जब सत्य-सत्य गुरु होते हैं—सद्गुरु होते हैं तब शिष्य सत्शिष्य होता है। तब शिष्य को कुछ करना नहीं रहता—वह केवल आत्म निवेदन करता है। वह पूर्ण निर्भर का भाव है। गुरु तब शिष्य को अंगीकार—आत्मसात् करते हैं।

पक्षान्तर से जब शिष्य प्रकृति शिष्य होता है तब passive होता है। शासन योग्य होता है, तब उसका कर्मत्याग हो जाता है, सर्वधर्म परित्याग होता है और शरणागति होती है, तब सद्गुरु आविर्भूत होते हैं।

शिष्य के शिष्यत्वोत्कर्ष क्रम

शिष्यत्व	१ — ४	कला	। शिष्य का	विशेष	पुरुषकार	रहता है।
''	४ — ८	''	। ''	''	''	'' ।
''	९ — १२	''	। ''	''	सामान्य कर्म	'' ।
''	१३ — १६	''	। ''	''	''	'' ।
''	१६	कला। पूर्ण निर्भर और आत्मनिवेदन अवस्था। यहाँ शिष्य का पुरुषकार = ०। वह यन्त्रवत् गुरु द्वारा संचालित होता है।				

अतएव गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से यह समझ में आता है कि शिष्य का पुरुषकार जब पूर्णतम तब गुरु की सामान्य कृपा होती है। कृपा वृद्धि के साथ-साथ पुरुषकार घट जाता है या पुरुषकार घटने के साथ-साथ कृपा बढ़ती है।

बात यों है—गुरु दीक्षा के समय ऐसा कुछ देते हैं, जिसके फलस्वरूप शिष्य का देहात्मबोध और कर्तृत्वाभिमान कट जाता है। कर्म करते-करते एक अलग भाव आता है। तब समझ में आता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, द्रष्टा-मात्र हूँ, कोई करा रहा है, इसलिए क्रिया हो रही है। यह भाव क्रमशः बढ़ता है। इसीलिए पुरुषकार घटता है अर्थात् कृपा बढ़ती है। शिष्य जब सत्‌शिष्य है तब उसका कर्तृत्वाभिमान कुछ भी नहीं है = ०, इसलिए गुरु-कृपा ही उस समय एकमात्र बल है। उस वक्त गुरु = सद्‌गुरु। उस समय शिष्य = अकर्ता। उस समय शिष्य यंत्रवत। शिष्य उस वक्त = साक्षी द्रष्टा। इसलिए वह निरभिमान होकर गुरुशक्ति का खेल देखता है। वही सत्‌शिष्य द्रष्टा है। यह द्रष्टा भाव आने, कर्म समाप्त होने पर पूर्ण कृपा राज्य में प्रवेश मिलता है। इसी को भक्ति राज्य में प्रवेश कहते हैं। उस समय अपना अभिमान, इच्छा आदि कुछ नहीं रहता। ईश्वर की इच्छा मूल हो जाती है।

पूर्ण विश्वास (अर्थात् विश्वास १६ कला) रहने पर गुरु साथ-साथ हैं। उन्हें खोजना नहीं पड़ता। बाहर के किसी भी चीज में उन्हें प्रकट किया जा सकता है। जिसे अपने में देखा जाता है, उसे दूसरों में भी देखा जा सकता है। जबकि दूसरा स्वयं अपने में जान नहीं पाता। उसी प्रकार गुरु जब पूर्णरूप में १६ कला कृपा करेंगे तब शिष्य की योग्यता नहीं देखेंगे। शिष्य चाहे जैसा हो—गुरु-कृपा से वह सिद्ध होता है। द्रष्टा हो जाता है। कर्तृत्व कट जाता है। उसे कुछ करने को नहीं रह जाता। अहेतुक पूर्ण विश्वास, गुरु महात्म्य निरपेक्ष होता है। पूर्ण कृपा भी अहेतुक और शिष्य योग्यता निरपेक्ष होता है।

जिसमें जो चीज व्यक्त रूप में नहीं है, उसे वह पाने का अधिकारी नहीं है, योग्य नहीं है। दाता या गुरु उसे वह चीज नहीं देंगे। अव्यक्त रूप में सब कुछ सभी स्थानों में है—यह विचारणीय नहीं है। अव्यक्त को व्यक्त करने का उपाय है—कर्म। अतएव कर्म के द्वारा समय-समय पर कोई-कोई चीज प्रकट हो जाती है। जो अधिक प्रबल है वह ऊपर रहता है, बाकी सभी अभिभूत रहते हैं, किन्तु यह अभिभूत रहने का अर्थ अव्यक्त नहीं है। जो एक बार व्यक्त होता है—चाहे जितना भी हो, फिर वह अव्यक्त नहीं होता, हो नहीं सकता, पर अभिभूत हो सकता है। अव्यक्त को जो देखते हैं, वे विशुद्ध चैतन्य हैं अर्थात् महाशक्ति या परमेश्वर या पूर्ण। लिहाजा जो पूर्ण हैं, वें सभी को सब कुछ दे सकते हैं। कारण, उनके लिए वह आत्मलीला-मात्र है। अव्यक्त में किसी का अभाव नहीं है,

इसलिए अव्यक्त उनका ही मात्र गोचर होने के कारण वे सब कुछ कर सकते हैं। दूसरे व्यक्त के सहारे कार्य कर सकते हैं। वह केवल मात्र बढ़ा देते हैं। जिसमें जो व्यक्त रूप में नहीं है, वह उसे दे नहीं सकता। बीज को वर्धित करना इसी का काम है। बीज का निर्माण करना या बीज के रूप में अभिव्यक्ति—यह उसका काम नहीं है। यह पूर्ण कर सकता है अथवा अपने-अपने पुरुषकार में होता है। इन पुरुषकारों को पूर्ण की कृपा कह सकते हो। पूर्ण के अलावा और कोई कृपा करके उसे नहीं कर सकता। वास्तव अन्य की कृपा नहीं है।

बाह्य गुरु को इसीलिए आन्तरिक विकास के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रकृत गुरु आत्मा है, उसे किसी की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। बीज भाव का तात्पर्य क्या है? फलाकांक्षा। फलवत्ता ही बीज की सार्थकता है। बीज जब तक फल के रूप में परिणत नहीं होगा, तब तक वह निष्फल है। कारण, पूर्णता या तृप्ति सभी चाहते हैं। किसी को अतृप्त या अपूर्ण रखकर पूर्ण नहीं हुआ जाता।

बाह्य गुरु का प्रथम कार्य क्या है? मेरे भीतर यदि सत्त्व के बीज हैं तो वे उसी को पकड़ेंगे—उसे बड़ा कर देंगे। स्वयं बड़ा कर सकते हैं। सदुपदिष्ट उपाय से शिष्य भी बड़ा कर सकता है। बड़ा होने पर देह स्थिर हो जाता है—आसन की सिद्धि होती है। मेरी समझ से—यम, नियम केवल सत्त्व को पुष्ट-मात्र करता है। देह के स्थिर होने पर प्राण स्थिर होगा, तब बाहर से उसे सहायता दी जा सकती है। यही प्राणायाम के उपदेशों का काल है। प्राण स्थिर होने पर इन्द्रियाँ स्थिर होंगी। बाद में मन स्थिर होगा। उस वक्त प्रत्याहार और धारणादि बाह्य उपदेशों का समय होता है।

गुरु मुख से बाहर होते ही विद्या-मंत्र वीर्यवती होते हैं। नाभि या मूलाधार से बोध के साथ जब शब्दों का उत्थान या उच्चारण होता है, तभी गुरुत्व होता है। इस अवस्था में जो शब्द उच्चारित होता है, वह चेतन शब्द है, पर संचार क्रिया के स्थूलत्व के कारण उसमें जड़त्व का मिश्रण होता है, फिर भी उससे कोई क्षति नहीं होती। धीरे-धीरे वह निवृत्त हो जाता है। जो कुछ शब्द श्रुतिगोचर होता है, वह जड़ है और चिदंश अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है। यही ज्ञानदान है। केवल पुस्तक से अथवा जिसकी कुण्डलिनी जागृत नहीं हुई है अर्थात् मूलाधार से चेतन शब्दोत्थान नहीं होता, उनके पास से जो मंत्र पाया जाता है, वह पूर्वोक्त मंत्र की तरह चेतन नहीं है, तथापि बीज मंत्र और भगवान् के नाम आदि के अन्य शब्दों की अपेक्षा विशिष्टता है। गुरुमुख से ध्वनित न होने पर उसे चेतन शब्द जरूर नहीं कहा जाता, फिर भी वह ब्रह्मादि ऋषियों द्वारा कभी उच्चारित हुआ था, इसलिए वह चेतन शब्द है, पर उसमें आवरण अधिक है। स्वयं उस आवरण को दूर करना कठिन कार्य है। गुरुमुख से उच्चारित होने पर आवरण काफी कट जाता है। थोड़ा

जो कुछ बचा रहता है अथवा संचारवशत: जम जाता है, वह साधक के सामान्य परिश्रम से कट जाता है। यह परिश्रम जप आदि है।

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं ध्यानमूलं गुरोः पदम्।
पूजा मूलं गुरोमूर्ति मोक्षर्मूलं गुरोः कृपा॥

मन्त्र जप—गुरु वाक्य। ध्यान—गुरु चरण। पूजा—गुरु मूर्ति। मोक्ष—गुरुकृपा। फलतः पहले गुरुवाक्य का जप करना चाहिए। बाद में ज्योति और उसमें चरण प्रकट होते हैं। तब ध्यान होता है। ध्यान करते-करते गुरु का रूप प्रकट होता है। उस वक्त पूजा करनी चाहिए। पूजा करते-करते साधक उस मूर्ति में प्रवेश करता है—मुक्त हो जाता है। मनुष्य स्वयं अपने को पूर्णभाव में बलि नहीं दे सकता। जो अहं नहीं है पर मम और अहंकार भावापन्न हो गया है, उसमें से अहं आपेक्षिक भाव में पृथक् होने पर कर्ता अहं कर्म अहं को किसी को भी अर्पण कर सकता है। इसी क्रम में चरम में जाकर जो अहं रह जाता है, उसे तोड़कर कर्म अहं प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतएव विशुद्ध कर्त्ता और द्रष्टा अहं उसे अर्पण नहीं किया जा सकता। कौन करेगा? जबकि उस अहं को बलि देना ही यथार्थ में आत्मसमर्पण है। वही अहंकार निवृत्ति, जो परावस्था का सूचक है। चूँकि यह कार्य स्वयं नहीं किया जा सकता, इसलिए दूसरों का अनुग्रह आवश्यक है। यही अनुग्रहकर्ता ही दीक्षादाता गुरु अथवा बलिदाता है।

दीक्षा के गुरु ज्ञानचक्षु खोल देते हैं। उस चक्षु के सामने इष्ट देवता (लक्ष्य) प्रकट होते हैं। उस चक्षु के सामने देवता सदा प्रकट रहते हैं, पर चक्षु का पर्दा क्रिया के द्वारा हटाना चाहिए। यह पर्दा स्थूल देह का संसृष्ट है। इसीलिए मृत्यु के समय स्थूल देह के कट जाने पर वह पर्दा हट जाता है। उस वक्त जीव ज्ञानचक्षु का अवलम्बन कर इष्ट देवता के धाम में चला जाता है। यदि योगादि के द्वारा जीवितकाल में उस स्थूल देह से सम्बन्ध छिन्न कर लिया जाय तो जीवन में उक्त गति सामयिक रूप से प्राप्त की जा सकती है।

व्याकुलता और विश्वास

शिशु की तरह रोना पड़ेगा, लोग जानने न पायें। लोगों को जताने की जरूरत नहीं। मैं रो रहा हूँ, इसका पता किसी को न चले। इसी रोदन के समय वे आकर गोद में बैठा लेंगे। इसके बाद हमेशा के लिए शान्ति आ जायगी। यह देखने-सुनने से नहीं होगा। होना चाहिए, धैर्य चाहिए, अन्यथा माँ की तरह परब्रह्मस्वरूपिणी मौजूद है, जबकि उन्हें सामने देखते हुए हम कहते हैं—मुझे यह नहीं मिला। आखिर ऐसा क्यों होता है? वह इसलिए कि हम अभी तक इसके योग्य नहीं हैं। क्या हम योग्य हैं? पहले योग्य बनो। मनुष्य खोजने से क्या होगा? मनुष्य में कुछ नहीं है। देवता में भी कुछ नहीं है। किसी में कुछ नहीं है। सब कुछ अपने में है, अगर उसे निकाल सको।

परिप्रश्न : यह तो भारी दुरूह कार्य है बाबा।

उत्तर : गुरु की जरूरत है। गुरु के भाव की जरूरत है। गुरु भाव चाहिए ही। वही असली जरूरत है। गुरु का भाव उसी समय खुल जायगा, जब यह देखोगे कि पक्ष-अपक्ष सब एकाकार हो गया है। एक लड़का वहाँ बैठकर मछली पकड़ रहा है। एक लड़का वहाँ जा रहा है। गुरु पूछ रहे हैं—लड़का क्या कर रहा है? कहा—वहाँ चला गया। अगर वहाँ से पूछा जाता—लड़का क्या कर रहा है? तब कहा जाता—लड़का आया है। जाने का जो माने है, वही आने का भी। यहाँ से कह रहा हूँ—चला गया। वहाँ से कह रहा हूँ—आ गया। जब यहाँ और वहाँ दोनों जगह एक ही है, तब जाने का जो अर्थ है, वही आने का भी। जाने का जो माने है, वही आने का। तुम्हारे भीतर ही तो गुरु हैं। तुम्हारे भीतर हैं, मेरे भीतर नहीं हैं? उसके भीतर हैं, इसके भीतर नहीं हैं? सभी के भीतर हैं। असली बात यह है कि उन्हें तुम्हें पाना चाहिये।

परिप्रश्न : पा कहाँ रहा हूँ?

उत्तर : इसीलिये गुरु की जरूरत है। गुरु की जरूरत का अर्थ ही है कि मेरे भीतर जो गुरुभाव है, अभी तक वह प्रस्फुटित नहीं हुआ है। अभी तक रो नहीं सका हूँ।

जगदीश्वर का प्रश्न : रोना जिससे आ जाय, इसके लिए प्रयत्न करना होगा।

उत्तर : हाँ, पर जबरदस्ती करने से नहीं होगा। स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्य: मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' इधर-उधर सभी दिशाएँ हैं, मुझे पकड़ो। मैं तुम्हें सभी के भीतर से निकाल दूँगा। ठीक इसी प्रकार होना चाहिए। अर्जुन जैसे व्यक्ति को भी श्रीकृष्ण से डाँट सुननी पड़ी। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कहा है। सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आओ।

एक जिज्ञासु : यदि कोई राम-राम करे और कोई जप करे, तो क्या मुक्ति मिल सकती है?

उत्तर : हाँ, राम नाम से हो सकती है, अगर राम नाम कर सको। करने की तरह हो—ठीक भीतर से हो। 'राम ना रहीम ना गीता पर दिल को सच्चा रख।' अगर भीतर तैयार हो गया तो राम-नाम या रहीम से भी होगा। क्या मुसलमानों का नहीं होता? ईसाइयों का नहीं होता? जो चिरकाल नास्तिक रहा, क्या उसमें परिवर्तन नहीं होता? संत (Saint) नहीं होता? मैं हजारों पुस्तकें पढ़ चुका हूँ। कहाँ तक उदाहरण दूँ? साधारण व्यक्ति भी संत हो गया है। नहीं हुआ है? झूठी बात है? प्राण में व्याकुलता आनी चाहिए। अन्तर में परिवर्तन होना चाहिए। भक्ति चाहिए। असल में हमारा अन्तर खुला नहीं है, इसे हम देखते नहीं हैं। केवल दूसरों का दोष देखता हूँ। चारों ओर कहते फिर रहे हो कि कोई हमें कुछ दे नहीं रहा है। कौन तुम्हें देगा? अपने को स्वयं तुम दोगे। दूसरा क्यों देगा? यह तुम्हारा दोष है (IT IS YOUR FAULT)। तुम्हारे भीतर ही गुरु है, उनका पता तुम्हें नहीं चल रहा है, इसलिए बाहरी गुरु की जरूरत है। यह सब सुनने से कोई लाभ नहीं है। यह भाषण सभी देते हैं। बातों से कुछ नहीं होता। प्राण में व्याकुलता होनी चाहिए। व्याकुलता है कहाँ? यदि व्याकुलता आ जायगी तो वह चीज भीतर प्रकट हो जायगी।

जगदीश्वर का प्रश्न : व्याकुलता तो मैकेनिकली लायी नहीं जा सकती, बाबा।

उत्तर : व्याकुलता मैकेनिकली होने पर वह भी मैकेनिकली है। वह कुछ नहीं सोचेगा। जबकि जब वह होगा, वह होगा मैकेनिकली। बशर्ते उनका आश्रय ले सको। हम लोग अपने को दोषी समझ रहे हैं, पर योग्य नहीं बन पा रहे हैं। वे आ नहीं रहे हैं, यह कहना उचित नहीं है। मैं कहीं भी क्यों न रहूँ, वे वहीं प्रकट होंगे। पूर्ण निश्चय, निश्चय, निश्चय SURE, SURE, SURE।

यदि उस तरह मेरा प्राण व्याकुल हो। यही तो बात है। इस पर विश्वास करो। नहीं करते तो मत करो। यह तुम्हारे पर निर्भर है। जिसकी आकांक्षा कर रहे हो, वह तुम्हारा नौकर नहीं है, दूसरी ओर वह तुम्हारे नौकर का भी नौकर है। कितनी अद्‌भुत बात है। वह तुम्हारा सर्वस्व है, जब उन्हें पालोगे तब देखोगे कि वे तुम्हारे सर्वस्व हैं, उनके बाद कुछ नहीं है। वे इतने बड़े हैं। जब तक पा नहीं सके

हो, वे हैं या नहीं, सन्देह करते हो। अगर वास्तविक आकांक्षा है तो छलांग लगाओ। बाहरी छलांग नहीं, दिखावा (show) नहीं। भीतरी करना होगा। आत्मसमर्पण करना होगा। यही मुख्य बात है।

प्रश्न : अपने को योग्य बनाना और वे स्वयं हमें योग्य बना लें, इन दोनों बातों में कितना अन्तर है?

उत्तर : अपने को योग्य बनाने का क्या अर्थ है? यह गलत बात है। अपने को योग्य बनाने की बात नहीं है—स्वयं उनके लिए व्याकुल हो। जो तुम्हें बनायेंगे, वे तुम्हारे गुरु होंगे। गुरु पाओगे कहाँ? गुरु मिल कहाँ रहे हैं? गुरु अध्यापक होते हैं, वे तुम्हें योग्य बनायेंगे। वे तुम्हारे भीतर हैं—बाहर निकलेंगे तभी तो! शिशु को योग्य बनाने के लिए लोग नहीं रहते? माँ, बाप, मास्टर उसे तैयार करते हैं, ठीक इसी तरह। रोते-रोते योग्यता आ जाती है। रोना सीखना चाहिए। घर-गृहस्थी की वासना जब है तब रोओगे कैसे? सब कुछ छोड़कर आकुल होकर पुकारो तब देखोगे कि वे आते हैं या नहीं।

प्रश्न : घर-गृहस्थी की वासना कैसे छूट सकती है?

उत्तर : व्याकुलता आये बिना कोई चीज पायी नहीं जा सकती। तर्क के द्वारा उन्हें पराजित कर उनसे ग्रहण करोगे यही तो मूर्खता है। स्वयं पराजित हो जाओ। जो हारेगा, वही जीतेगा।

प्रश्न : असल में गृहस्थी के लिए व्याकुलता है, उनके लिए नहीं है।

उत्तर : ठीक कह रहे हो। अगर उनके लिए सचमुच व्याकुलता उत्पन्न हो तो फिर डरने की कोई बात नहीं, क्योंकि सब कुछ उसका हो गया। यही सबसे बड़ी चीज है। बाकी काम वे करा लेते हैं। एक ही गुरु—फिर भी नहीं पाते।

प्रश्न : यह त्रुटि हमारी है, उसे हम देख नहीं पाते।

उत्तर : हर वक्त हमारी है, यह जो अप्राप्ति हो रही है, यह भी हमारे लिए है। जो प्राप्त करेगा, वह तो मैं ही हूँ। फिर पा नहीं रहा हूँ, यह भी मैं हूँ। फलतः त्रुटि तो मेरी है। आगे जब त्रुटि दूर हो जायगी, आगे त्रुटि दूर होवे, तब वह मेरी हो जायगी। दूसरों को दोष देने से लाभ? हमारी सामान्य प्रवृत्ति (General tendency) है—दूसरे के मत्थे दोष मढ़ना। ए बी सी डी सीखने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता होती है। मेरे भीतर सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। वह सब खुल जाने पर ही होगा।

जिज्ञासु : राम-नाम करने के लिए गुरु की आवश्यकता है?

उत्तर : राम-नाम करने के बारे में मुझसे सुन लिया, इसी से गुरु का काम हो गया। चीज किसी से प्राप्त हो, वही गुरु हो जाता है। तुम अगर पकड़ सको तो उनसे प्राप्त कर लोगे। मेरी बातों की कोई जरूरत नहीं होगी। एक पुस्तक की

बात, एक पॉवर की बात से हो सकती है। सर्वत्र सब चीज है। तुममें विश्वास है कि नहीं, यही मुख्य बात है। अगर विश्वास है तो काम होगा। तब रामनाम से कोई मतलब नहीं। क्या सभी राम-नाम करते हैं? एक ओर राम-नाम करते हैं, पर उनमें श्रद्धा नहीं है। जन्म पर जन्म ले रहे हैं, पर कुछ नहीं होता है। दूसरी ओर थोड़े दिनों में उनका अन्तर खुल जाता है। सब कुछ अन्तर का मामला है। असल चाहे जहाँ हो, जड़ में गुरु हैं। गुरु मनुष्य नहीं है। शिवसूत्र में है—वही उपाय। उपाय को छोड़कर उपेय नहीं पाया जाता। चाहे तुम क्राइस्ट का नाम लो या खुदा का। सरल भक्ति होना आवश्यक है और साथ ही आकांक्षा। तभी अन्तर खुल जायगा। शेष कार्य अपने आप हो जायगा। दोष-गुण सब अपने भीतर हैं।

धीरेन मुखर्जी का प्रश्न : मनुष्य का विश्वास भगवान् के प्रति कैसे हो सकता है—भगवान् में विश्वास कैसे हो सकता है?

उत्तर : कैसे होता है? कैसे साधारण वस्तुओं पर विश्वास होता है, बताओ। भोजन करने पर पेट भरता है, इस पर कैसे विश्वास होता है?

प्रश्न : भगवान् के मामले में यह उचित नहीं है।

उत्तर : यह भी उसी तरह का है, ठीक उसी प्रकार।

प्रश्न : कौन-सा रास्ता है?

उत्तर : लाखों-करोड़ों रास्ते हैं—सब एक ही रास्ते हैं—सब एक ही रास्ता है। गुरु मार्ग बता देंगे। बिना मास्टर के ए बी सी डी पढ़ते कैसे हो? ए बी सी डी की पुस्तक रखने से क्या होगा? उसके लिए पढ़ना पड़ता है—पढ़ाना पड़ता है। अगर यह कहो कि यह कुछ नहीं है—यह तो साधारण बात है, फिर भी मास्टर की जरूरत होती है। बिना मास्टर के यह नहीं होता। गुरु के अलावा नहीं होता।

प्रश्न : यह जो कहा जाता है कि नाना प्रकार के हैं, किन्तु किसी प्रकार का क्यों न रहे........।

उत्तर : गुरु माने अध्यापक, यही जो पूछ रहे हो, इससे लगता है जानते नहीं। जतानेवाले की जरूरत है। यह सीधी बात है।

प्रश्न : यह जो कहा जाता है.......

उत्तर : शायद कहोगे कि पुस्तक पढ़ी, मैं लाखों पुस्तकें पढ़ चुका हूँ, इससे क्या होता है? ब्रेन के कल्पना-शक्ति बढ़ती है, और कुछ नहीं होता। ठीक मार्ग जो है, वह गुरु के पास है, जो सब कुछ दिखा सकते हैं। गुरु माने सद्‌गुरु। उनकी जरूरत है। एक अच्छे प्रोफेसर के पास पढ़ने जाना और एक सामान्य व्यक्ति के पास पढ़ने जाना क्या दोनों बराबर है? यह तो सीधी बात है। जो चीज अनन्तकाल से है, अनन्त कला अनन्त वैशिष्ट्य लेकर उस चीज को पकड़ूँगा—झट से पकड़ूँगा, अपने आप सम्भव है अगर कोई कहे तो यह पागलपन है। और कुछ

नहीं। गुरु का रहना जरूरी है। गुरु की जरूरत है। साधना की जरूरत है। बहुत कुछ है। साधना नाना प्रकार की है—सभी एक प्रकार के नहीं हैं, अलग-अलग हैं। सभी में मार्ग है, यह तो समझ ही रहे हो। मार्ग दिखानेवाले की जरूरत है। सीधी बात है। अगर मैं बता दूँ तो मैं गुरु बन गया। ठीक सत्य वस्तु का निर्णय करने की क्षमता देनी होगी एवं चला लेना होगा—सुख-दुःख के बीच से, अच्छे-बुरे के मध्य से, द्वन्द्व के मध्य से—जो चला सकेंगे, वे ही गुरु हैं। यह तो सीधी बात है जिसे सब जानते हैं। जानते हैं, पर मानते नहीं, यही तो बात है। पुस्तकें पढ़कर—दस पुस्तकें पढ़ी गयीं—मैं बड़ा पण्डित बन गया। न जाने कितनी किताबें मैं पढ़ चुका हूँ, उससे क्या हुआ? कुछ नहीं हुआ। वह चीज खुल जायगी। जब वह चीज खुल जायगी, अपने प्रकाश से अपने आप खुल जाती है, तब किसी को बताना नहीं पड़ता, पूछना नहीं पड़ता।

प्रश्न : तब क्या हम लोगों को कुछ करने की जरूरत नहीं है? जब खुल जाता है के माने अटोमेटिक खुल जाता है।

उत्तर : जिससे गुरु प्राप्त हों, इसके लिए प्रयत्न करो। अगर गुरु नहीं हैं तो गुरु पकड़ने का प्रयत्न करो। करने को क्या नहीं है। निश्चय करना है। विजयकृष्ण गोस्वामी थे, उनकी जीवनी पढ़ चुके हो? वे न जाने कितनी जगह गये, न जाने कितनी जगह घूमते रहे। यहाँ तक कि आत्महत्या तक करने गये थे। इतना बड़ा काण्ड वे करने गये थे। पाश्चात्य गुप्त जीवन पढ़ा है। बेकार की बातें हैं। उन लोगों ने कितना कष्ट सहा है। पाया नहीं, फिर पाकर अपने को धन्य समझते हैं।

पहले पाया नहीं, यह तो होगा ही। अगर एक उत्सुकता नहीं हुई तो पाने की इच्छा कहाँ से आयेगी? इसके बाद वाला भी करना चाहिए। कोई तुम्हारा नौकर नहीं है जो आकर बता देगा कि 'यह नहीं'। वह तुम्हारे प्राणों की आकांक्षा है। यदि तुम उस प्रकार प्राण के आकांक्षायुक्त हो तो सभी शक्तियाँ एक के बाद एक करके आ जायँगी। जरूरत होने पर अपने आप आ जायँगी। न जाने कितने उदाहरण हैं। जो नास्तिक हैं, वह आस्तिक भी होता है। निराश मत हो। पथ है, कोई उसकी ओर लक्ष्य कर रहा है, कि है, किन्तु स्वयं तुम अपने को नहीं जानते। यही असली बात है। जब किसी को नौकरी मिलती है तब वह अधिक वेतनवाली नौकरी के लिए छटपटाता है। इस प्रकार की अवस्था भगवान् को पाने के लिए कहाँ है? इस अवस्था की प्राप्ति नहीं हो रही है। पाने पर आनन्द में डूब जाओगे।

●

गुरुतत्त्व और सद्‌गुरु रहस्य

जीव के जागरण या प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धादि अवस्था जिसके माध्यम से होती है, अब उन्हीं गुरु या सद्‌गुरु तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जा रही है।

गुरु मन्त्र में यह श्लोक निबद्ध है, देखा गया है—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

इसके साथ यह श्लोक भी मिलता है। यहाँ उसका भी उल्लेख किया जा रहा है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

फिलहाल इन दोनों श्लोकों का तात्पय इस तरह वर्णन किया जा सकता है—जो अखण्ड मण्डलाकार चराचर विश्व के व्यापक परम पद का प्रदर्शन करते हैं, वे ही गुरु हैं एवं जो अज्ञान तिमिर के प्रभाव अन्धोभूत शिष्य के नेत्र को ज्ञानरूपी अंजनशलाका के द्वारा खोल देते हैं, वे ही गुरु हैं।

यह जो ज्ञानचक्षु के खोलने की बात कही गयी, यही अखण्ड मण्डलाकार चराचर के व्यापक परम पद दर्शन का एकमात्र उपाय है। वास्तव में यही ज्ञानचक्षु और परमपद उपाय भी, उपेय रूप में परिगणित होने पर भी स्वरूप दृष्टि से एक ही वस्तु है। प्रकारान्तर से ऋग्वेद में एक प्रसिद्ध मन्त्र में इस भाव की अभिव्यक्ति हुई है, यथा—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।' यहाँ विष्णु के परम पद अर्थात् श्री भगवान् की परिपूर्णतम् स्थिति का व्यापक दिव्यचक्षु के साथ तुलना करने पर स्वरूप पद दृष्टि से, दिव्यचक्षु और ज्ञानचक्षु एवं परमपद की अभिन्नता सिद्ध हुई है।

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि ज्ञानचक्षु किस प्रकार का है तथा इसके निमीलन और उन्मीलन व्यापार का क्या रहस्य है? इस प्रश्न के उत्तर में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे अज्ञान चक्षु है, वैसे ही ज्ञान चक्षु है। जिस प्रकार अज्ञान चक्षु से अज्ञान का जगत् तथा जगत् के सभी पदार्थ भिन्न रूप में, प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञानचक्षु से ज्ञान-जगत् के सभी पदार्थ अभिन्न रूप में साक्षात् देखा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य में ज्ञानचक्षु और अज्ञान चक्षु दोनों ही विश्व प्रकृति का दान है। हम जिन दोनों से परिचित हैं, उनके नाम अज्ञानचक्षु हैं।

अज्ञान अवस्था में ये दोनों चक्षुएँ क्रिया करते हैं और ज्ञानचक्षु निमीलित रहता है। ज्ञानचक्षु का उन्मीलन होने पर वह वैसी क्रिया करते हैं एवं हमारे अज्ञान चक्षुद्वय निमीलित हो जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान दोनों अतीत होकर दोनों के अधिकारी होने पर मनुष्य 'त्रिनेत्र' पद पर अभिषिक्त होने योग्य हो जाता है।

साधारण अवस्था में अज्ञान चक्षु की क्रियाशीलता के कारण मनुष्य द्विनेत्र है। निर्विकल्प समाधि के समय अथवा किसीं भी उपाय से संभूत ज्ञान के उन्मेष के समय, मनुष्य क्रियाशील ज्ञान-चक्षु-सम्पन्न एवं एक नेत्र के रूप अभिहित होता है। उक्त अवस्था में तिरोभाव होने पर पुनः अज्ञान का प्रादुर्भाव होता है एवं मनुष्य द्विनेत्र के रूप में व्यवहार भूमि में संचरण करता है। ज्ञान की अवस्था में एकमात्र ज्ञानचक्षु उन्मीलित रहने के कारण शास्त्रीय व्यवहार से प्राचीनकाल में प्रज्ञाचक्षु माने अन्धा समझा जाता था। अवस्था की पूर्णता सिद्ध होने पर ज्ञान-शक्ति और अज्ञान-शक्ति दोनों ही अपने कब्जे में रहती हैं। उस वक्त मनुष्य इच्छा अथवा प्रयोजनानुसार दोनों शक्तियों का समुचित भाव से या विकल्पित रूप में व्यवहार कर सकता है।

यही ज्ञानचक्षु ही महाजन समाज में तृतीय नेत्र के नाम से अभिहित होता है। इसे खोल देना या ज्ञान-दान करना एक ही बात है। यही गुरु का काम है।

मनुष्य साधारण अवस्था में विरुद्ध शक्तियों के अधीन रहता है। प्रत्येक स्तर में उसे उसी स्तर के अनुरूप विरुद्ध शक्तियों का संघर्ष सहन करना पड़ता है। श्वाँस, प्रश्वाँस, प्राशा और अपान की क्रिया, सुख-दुःख बोध, मान-अपमान या अपना-पराया ज्ञान आदि सभी द्वन्द्व रूप मौलिक विरुद्ध शक्तियों से उद्भूत हैं। मनुष्य के दोनों चक्षु वस्तुतः वाम और दक्षिण के रूप में विरुद्ध शक्तियों के प्रतीक हैं। चक्षु की भाँति अन्य इन्द्रियाँ भी विरुद्ध शक्ति के आस्पद हैं। यही वाम शक्ति और दक्षिण शक्ति पर्याय क्रम में प्रधानता प्राप्त करती हैं। काल के आवर्त्तन तथा गुण के आवर्त्तन में भी कभी वाम प्रधान होता है, तो कभी दक्षिण अभिभूत रहता है और कभी दक्षिण प्रधान होता है, तो वाम अभिभूत रहता है। मनुष्य के शरीर में प्राणमय और मनोमय कोष में विश्व के सभी भुवनों, यहाँ तक कि अणु-परमाणु में भी इन दो विरुद्ध शक्तियों का खेल जारी है, यह दिखाई देता है। इस शक्ति को अतिक्रम न कर सकने पर शान्ति, प्रेम, समन्वय, मैत्री आदि किसी भी सद्गुण के विकास की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए सर्वत्र मनुष्य, खासकर जिन्होंने पूर्णता की ओर लक्ष्य की स्थापना की है, उनका एकमात्र कर्त्तव्य है कि चाहे किसी भी उपाय से हो, इस द्वन्द्व का अतिक्रम करके द्वन्द्वातीत हो जायँ। इसलिए देह को आश्रय करके कर्मपथ पर अग्रसर होने से सर्वप्रथम इस विरुद्ध शक्ति द्वय के संघर्ष का निवारण करना ही कर्म का उद्देश्य बन जाता है। क्रिया कौशल से जब इस

संघर्ष का समन्वय सम्पन्न होता है तब विरुद्ध दोनों शक्तियाँ मध्य बिन्दु में आकर साम्य अवस्था प्राप्त करती हैं। यह जो मध्य बिन्दु है वह अव्यक्त है, किन्तु अव्यक्त होने पर भी यह मध्य मार्ग का मूल आधार है, इसमें कोई सन्देह नहीं। विरोध न रहने के कारण इस अव्यक्त भूमि को भी मध्य कहते हुए निर्देश किया जा सकता है।

योगीगण इसी मध्य भूमि में दोनों शक्तियों के साम्य प्राप्त होने के कारण एक अचिन्त्य तेज का उद्दीपन अनुभव करते हैं। कुण्डलिनी का जागरण वास्तव में इसी उद्दीपन का पारिभाषिक नाम है। इसे कुण्डलिनी-जागरण न कहकर यदि मध्य-शक्ति का विकास कहा जाय तो किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं है।

बुद्धदेव बहुत दिनों तक गुरु-उपदेश के अधीन रहकर एवं इसके बाद स्वयं बाह्यतः अनुपदिष्ट रूप में, इसी मध्य-शक्ति की साधना करते रहे। अन्त में जब प्राप्ति हुई तव उसे मध्यमार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) के नाम से घोषणा की थी। मध्यमार्ग का यह आविष्कार वास्तव में चिदग्नि का प्रज्ज्वलन-मात्र है। प्रज्ज्वलित होकर यह अग्निशिखा क्रमशः मध्य पथ के सहारे ऊर्ध्व की ओर उठती रहती है। यद्यपि वाम और दक्षिण ये दोनों पार्श्वगत शक्तियाँ अभिभूत हैं एवं ब्रह्म पथ गामिनी सरल शक्ति ऊर्ध्वगति सिद्ध हुई है तथापि संस्कार के रूप में दक्षिण और वाम का प्रभाव बिलकुल तिरोहित नहीं हुआ है, इसलिए मध्य पथ की सरल गति का आवर्त्तभाव तिरोहित नहीं हुआ है। कारण गति से वाम की ओर या दक्षिण की ओर आकर्षण-विकर्षण की क्रिया रहने पर आवर्त की रचना अवश्य होती है।

किन्तु प्रज्ज्वलित अग्नि की ऐसी महिमा है कि जितना ऊर्ध्वगति के साथ-साथ इसका वेग बढ़ता है, उतना ही वाम और दक्षिण में आकर्षण और विकर्षण न्यून होता जाता है। चरम अवस्था में वाम और दक्षिण का यह विरुद्ध संस्कार, तब संस्कार के रूप में नहीं रहता और जब यह संस्कार क्षीण हो जाता है, तब एक हिसाब से अग्नि की ऊर्ध्व गति भी अवसान प्राप्त करती है। जब तक ईंधन रहता है तब तक जिस प्रकार आग जलती है—ईंधन के न रहने पर जैसे आग जल नहीं सकती, उसी प्रकार जब तक वाम और दक्षिण में वक्रगति का संस्कार रहता है तब तक मध्यमार्ग की ऊर्ध्वगति का खेल जारी रहता है। जब उपशम होता है, तब सब एकसाथ निरुद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में विराट् और विशाल प्रकाश रूप में उक्त ऊर्ध्वगतिशील अग्नि अर्थात् चिदग्नि की स्वयं अभिव्यक्ति करती है। इसी का नाम ज्ञानचक्षु का विकास और षट्चक्र भेद की पूर्ण परिणति है।

ज्ञानचक्षु अर्थात् व्यापक ज्ञान का प्रकाश होने पर आत्मा स्वभावतः अनात्मा से पृथक् हो जाती है। उस वक्त देहात्मा का बोध नहीं रहता, केवल देह ही क्यों,

मन, प्राण, बुद्धि यहाँ तक कि प्राकृतिक सत्त्व, सर्वत्र से यह आत्मबोध उपसंहृत होकर शान्त प्रकाश रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यही चिदाकाश का प्रकाश है और ज्ञाननेत्र का उन्मीलन। इसके बाद जो अवस्था उदय होती है, वह उक्त ज्ञाननेत्र के उपयोग और व्यवहार के सम्बन्ध में समझना चाहिए। सद्गुरु अपनी शक्ति के द्वारा शिष्य को अर्थात् शिष्य के चैतन्य को सभी प्राकृतिक आवरण से मुक्त कराकर इसी शान्त स्वरूप में स्थापित करते हैं। लौकिक भाषा में जिसे काशी-मृत्यु कहा जाता है, वह वास्तव में इस ज्ञान के उदय होने पर देहात्म बोध का उल्लंघन-मात्र है। भ्रूमध्य तक षट्चक्र का विस्तार है। आत्मचैतन्य गुरु-कृपा से भ्रूमध्य में भेद हो जाने पर देहात्म बोध से छुटकारा मिल जाता है। इसका साक्षात् उपाय है—पूर्वोक्त आत्म चैतन्यरूप व्यापक ज्ञान का विकास।

अब सवाल यह है कि क्या सद्गुरु के अलावा अन्य कोई जीव आत्मचैतन्य को इस अखण्ड प्रकाश रूप स्थिति तक पहुँचा सकते हैं? इसका एकमात्र उत्तर है कि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति जब तक पूर्ण रूप से अपने कब्जे में न आये तब तक यह उत्क्रमण व्यापार सम्भव नहीं है। सर्वज्ञ होने पर भी जब तक कर्तृत्व प्राप्त कर क्रियाशक्ति को कब्जे में न कर लिया जाय तब तक स्वयं मुक्त होकर भी दूसरों के मोचन का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु बात यह है कि सद्गुरु दीक्षा श्रीभगवान् का अनुग्रह प्राप्त जीव का उद्धार कर देने पर भी जीवन्मुक्त के लिए उक्त जीव के लिए स्वयं कुछ करने का कर्त्तव्य शेष रह जाता है। कारण, श्रीगुरु-कृपा से दीक्षारूपी क्रियाशक्ति के प्रभाव से अधिकारी विशेष में पौरुष-अज्ञान निवृत्त होने पर भी, जीव का बुद्धिगत अज्ञान तिरोहित न होने तक भले ही शिवत्व प्राप्त कर चुका हो, अपने को शिव-रूप में पहचान नहीं पाता एवं इसीलिए जीवन्मुक्ति साक्षात्कार रूप में आनन्द सम्यक् उपलब्धि नहीं कर सकता। भोग के अन्त में देहपात होने पर शिवत्व की प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त होती है—इसमें सन्देह नहीं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भोग इसी जन्म में पूर्ण हो सकता है और अवस्था विशेष से ऊर्ध्वलोक में जन्मान्तर परिग्रह करके तथा वहाँ तदनुरूप भोग प्राप्त करने के बाद ऊर्ध्व देह के अवसान में पूर्ण हो सकता है। पहले जो कुछ कहा गया, उससे समझा जा सकता है कि सद्गुरु अपनी अनन्त करुणा के द्वारा प्रेरित होकर पूर्ण ज्ञानशक्ति और पूर्ण क्रियाशक्ति के प्रभाव से अनादिकाल के बद्ध जीव को जगा देते हैं एवं उसके ज्ञानचक्षु-पटल को हटाकर उसे शिव-पद में स्थापित करते हैं। अति उच्च अधिकारी के लिए यद्यपि बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं हो सकती है तथापि साधारणतया नियम यही है। अतएव शिष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह गुरु-चरणों में गुरु के महिमामय स्वरूप का चिन्तन करते हुए अपना नम्र निवेदन करे तथा स्वरूप चिन्तन के अन्तर्गत उसके लिए यही प्रधान

चिन्तनीय है कि गुरु अपने गुणों एवं अपनी शक्ति के द्वारा संसार-पंक से उसे उद्धृत करते हुए चिदालोक में उद्भासित मुक्तिपद पर प्रतिष्ठित कर दें। अखण्ड मण्डलाकर चराचर व्यापक पद का वे ही प्रदर्शन करते हैं।

जो गुरु अखण्ड पद में स्थापन नहीं कर पाते, वे भले ही गुरु-रूप में परिचित हों, पर वे वास्तविक गुरु नहीं हैं, कारण—निरविच्छिन्न मुक्ति ही भुक्ति है। अवच्छेद विशिष्ट घेरा संयुक्त मुक्ति पूर्ण मुक्ति नहीं है एवं जो पूर्ण मुक्ति नहीं दे सकते, वे गुरु होने पर भी पूर्ण गुरु नहीं हैं, कारण—अवशिष्ट सूक्ष्म बन्धन के लिए गुरु की प्रयोजनिता तब भी रह जाती है। इसीलिए अखण्ड-मण्डलाकार रूप परमपद ही गुरु के लिए भी प्रदर्शनीय और शिष्य के लिए प्राप्त है। यही अखण्ड पद मायिक जगत्, मायातीत विशुद्ध ज्योतिर्मय एवं अनन्तशक्तिमय महामाया जगत् एवं उसके भी अतीत शक्ति जगत् समन्वित अखण्डमण्डलाकार प्रकाश है। इसमें निष्कल सत्ता अखण्ड रूप और अनविच्छिन्न स्वातंत्र्यमय प्रकाश रूप में भित्ति स्वरूप वर्तमान है। विभिन्न कलामय खण्ड सत्ता अनन्त वैचित्र्य सम्पन्न भुवन रूप में एवं तदन्तर्गत देहधारी, इन्द्रियधारी अन्तःकरण सम्पन्न सत्ता रूप में विद्यमान है। विशुद्ध ज्ञानचक्षु के उन्मीलिन होने पर अखण्ड रूप में यही अद्वैत सत्ता द्रष्टा के साथ अभिन्न रूप में खुल जाता है। जिन्होंने अपनी महिमा एवं अपार करुणा से इस अखण्ड सत्ता के साथ अभेद उपलब्धि के द्वारों को खोला है, वे ही गुरु हैं, वे ही नमस्य हैं।

कहा जा चुका है कि गुरु का कार्य केवल प्रदर्शन है, यह कठोर सत्य है। कारण, एक ओर जो शक्ति प्रदर्शन करती है, दूसरी ओर वही शक्ति दर्शन करती है, कारण अद्वैत भूमि पर प्रदर्शन और दर्शन अर्थात् देखना और दिखाना एक ही व्यापार है। गुरु दिखा देते हैं, शिष्य-आत्मा साक्षात् रूप से देखती है। यह अभिन्न एवं अविभूत व्यापार है। बुद्धि के निकट केवल मात्र प्रतिभास होता है। केवल यही नहीं, गुरु का दिखाना और शिष्य का देखना एवं अन्त हो जाना। एक ही अखण्ड स्वप्रकाश चिद् उज्ज्वल महासत्ता की तीन दिशाएँ हैं। कारण, आत्मा अभेद में जो देखता है, अपना भी वही होता है अथवा जो होकर है, वह वही देखता है। द्वितीय नामक कोई पदार्थ नहीं है।

'सद्‌गुरु' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में, विभिन्न स्थानों में, विभिन्न प्रसंगों में उपलब्ध है। अनेक स्थानों में 'गुरु' और 'सद्‌गुरु' शब्दों का प्रयोग अभिन्नार्थ में किया गया है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु किसी-किसी स्थान में 'सत्' विशेषण के द्वारा असद्‌गुरु से गुरु विशेष की विलक्षणता बतायी गयी है—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे स्थानों में सद्‌गुरु कहने का क्या तात्पर्य है और असद्‌गुरु कौन है—इस पर विचार करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में शास्त्रों का निगूढ़ रहस्य क्या है, उसे जानने की इच्छा मन में उत्पन्न होती है, किन्तु इस जिज्ञासा की

निवृत्ति के लिए शास्त्रों का आश्रय बिना लिए अन्य कोई उपाय नहीं है। मालिनी विजय में है—

....स यियासुः शिवेच्छया।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं मयिते सद्‌गुरुं प्रति॥

इससे समझ में आता है कि सद्‌गुरु का आश्रय न पाने पर जीव एकसाथ अभिन्न रूप से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् पूर्णत्व प्राप्त नहीं कर सकता।[1] सद्‌गुरु प्राप्ति के मूल में जो भगवदिच्छा ही मुख्य कारण है और जीव की इच्छा उस मूल इच्छा की अनुगामिनी है, जो 'यियासुः शिवेच्छया' वाक्यांश से स्पष्ट समझ में आता है। यह स्मरण रखना होगा कि असद्‌गुरु की प्राप्ति के मूल में एक ही भगवदिच्छा कार्य करती है, इसमें सन्देह नहीं है। जो परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के बाद उनके साथ तादात्म्य प्राप्त नहीं कर सके, ऐसे तत्त्व उपदेशक आचार्य विशेष को असद्‌गुरु कहा जाता है। जिन साधकों के चित्त में इस प्रकार के आचार्य के प्रति गहरा विश्वास है, वे आगमशास्त्रोपदिष्ट परामुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते; यहाँ तक कि मायाराज्य अतिक्रम करने में समर्थ नहीं होते। उन्हें जो मुक्ति मिलती है, वह वास्तविक मुक्ति नहीं है—प्रलय कैवल्य की भाँति एक अर्ध-जड़ अवस्था-मात्र है। वास्तविक मुक्ति में पशुत्व की निवृत्ति होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु इन साधकों की उस अवस्था में पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती।[2] ये मायापाश अथवा श्री भगवान् की नाम्नी शक्ति

---

१. भोग और मोक्ष की साम्यावस्था ही जीवन्मुक्ति है। भोक्ता जब भोग्य के साथ एकीभूत होता है तब उसी एकीभाव को 'भोग' कहते हैं, 'मोक्ष' कहते हैं। प्रबोध पंचदशिका में है—"तस्या भोक्ता स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः। स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्।" वस्तुतः भोग और मोक्ष की अनुभूति का सामरस्य ही जीवन्मुक्ति है। महेश्वरानन्द के मत से (म० मंजरी, पृ० १७१) यही त्रिकदर्शन की विशेषता है। श्री रत्नदेव में है—"भुक्तिर्वाप्यथ मुक्तिश्च नान्यत्रैकपदार्थतः। भुक्तिमुक्ति उभे देवी विशेषे परिकीर्त्तिते।" यह अवस्था—अपनी विश्वात्मकता—'सर्वो ममयां विभवः' इस रूप में अनुभूति होती है। यह विश्वासात्मकता आत्मा का स्वभाव है, आहार्य या आगन्तुक धर्म नहीं।

इस भोग और मोक्ष की एकता को बौद्ध जानते थे। सहजिया लोग कहते हैं कि वायु के गमन पथ को रोध करके, चन्द्र-सूर्य मार्ग को निरुद्ध कर, उस घोर अन्धकार में मन या बोधिचित्त को दीपक बना लेने पर 'महासुख' का प्रकाश होता है। उस समय जिनरत्न या वरगगण नामक अध-ऊर्ध्व पद्म को अवधूती स्पर्श करती है, जिसके कारण भव और निर्वाण दोनों की एकसाथ सिद्धि होती है। भवभोग = पाँच प्रकार कामगुण; निर्वाण = महामुद्रा साक्षात्कार।

२. जो आगमसम्मत परामुक्ति है, वही है। आगम के मत से सांख्य का कैवल्य पूर्णत्व नहीं है और न वेदान्त की मुक्ति में पूर्णत्व है। द्वैत और अद्वैत द्विविध आगमों में इसका समर्थन है। जयरथ कहते हैं (तंत्रालोक टीका ४/३१), वेदान्त की मुक्ति सवेद्य प्रलयाकल

के द्वारा रंजित रहते हैं। इस कारण इनका असद्गुरु में अनुराग और विश्वास गहरे रूप में उदित होता है।

किन्तु इनमें से कोई-कोई सद्गुरु प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है। भगवदनुग्रह प्राप्त शक्तिपात पवित्रित साधक जब अपना स्वरूप प्राप्त करने के लिए व्याकुल होता है तब ज्येष्ठा शक्ति नाम्नी भगवदिच्छा की प्रेरणा से उसके चित्त में सद्गुरु प्राप्त करने की शुभ इच्छा जाग उठती है।[१] यह इच्छा शुद्ध विद्या का विकास एवं 'सत्तर्क' के नाम से प्रसिद्ध है।

असद्गुरु हो या सद्गुरु, दोनों की प्रवृत्ति के मूल में भगवदिच्छा है। असली बात यह है कि शक्तिपात की प्रवृत्ति क्रमिक होती है। इसी से कोई-कोई असद्गुरु और अपूर्णत्व प्रतिपादक शास्त्र का आश्रय लेकर बाद में सद्गुरु का आश्रय प्राप्त करते हैं। शक्तिपात की विचित्रता के कारण गुरु और शास्त्रगत सद्भावों की विचित्रता होती है। पूर्णसत्य के प्रतिपादक शास्त्र और गुरु ही सत्शास्त्र और सत्गुरु हैं। जो वास्तव में मोक्ष नहीं है, वह भी मोक्ष-सा प्रतीत होता है और मोक्ष समझने के कारण उसे पाने की जो स्पृहा होती है, माया ही उसका एकमात्र कारण है। माया पिशाचिनी ही इस प्रकार जीव को निरन्तर इधर-उधर भटका कर कष्ट देती है, किन्तु माया के पीछे भगवान् की करुणा भी जागती रहती है। इसीलिए साधक का चित्त दृढ़ संस्कार के कारण उस प्रकार के शास्त्र और गुरु के प्रति आस्थावान होने पर भी भगवद्-कृपा से उसमें 'सत्तर्क' या परामर्शज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। उस वक्त कौन-सा सार है और कौन-सा असार—इसे समझने में देर नहीं लगती। इस प्रकार शुद्ध विद्या के प्रभाव से—ज्येष्ठाशक्ति के अधिष्ठानवश—पवित्रता की प्राप्ति होती है और निर्विघ्न रूप से सत्पथ प्राप्त करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है।

'सत्तर्क' या शुद्धविद्या का उदय किस प्रकार होता है? किरणागम के मत से किसी का 'सत्तर्क' गुरु के उपदेश से उदय होता है, किसी का शास्त्र से, किन्तु

अवस्था की भाँति है। वे मुक्ति को विज्ञानकैवल्यवत् स्वीकार नहीं करते। इससे ऐसा लगता है कि उनके मत से इस अवस्था में (वेदान्त के मोक्ष में) आणवमल सम्पूर्ण रूप से वर्तमान रहता है, ध्वंसोमुख नहीं होता। विज्ञानकैवल्य में किन्तु आणवमल में कम से कम ध्वंसोमुख होता ही है—गोकि एक बार में ध्वस्त हो सकता है। विज्ञान केवली का कर्म न होने के कारण पुनरावृत्ति नहीं होती—आणवमल ध्वंसोमुख होने के कारण उसमें कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु कोई-कोई वेदान्तमोक्ष को विज्ञानकैवल्यवत् मानते हैं। वैष्णवादियों का मोक्ष उक्त मत से प्रलयाकल की तरह है। उस अवस्था में दीर्घकाल तक मोहादिरूप भोगना पड़ता है। बाद में जन्म होता है (नयी सृष्टि में)। न्यायादि का अपवर्ग आत्मा का सर्व विशेषगुणोच्छेद होने के कारण अपवेद्य प्रलयाकल के सदृश्य है।

१. भगवान् की कृपा से सद्गुरु प्राप्त होते हैं—यह बात सर्वत्र स्वीकृत है।

ऐसे भी उत्तम साधक हैं जिनका 'सत्तर्क' गुरु के आदेश या शास्त्रादि से न होकर अपने आप (स्वत:) उदित हो जाता है। इसका वस्तुविषयक ज्ञान अपने से ही (स्वत:) उत्पन्न होता है—वह गुरु आदि के अधीन नहीं है।[१] यह ज्ञान जैसे स्वभावसिद्ध है, वैसे ही इस प्रकार के साधक भी स्वभावसिद्ध (सांसिद्धिक) होते हैं, पर यह ज्ञान नितान्त ही निमित्तहीन है, यह बात भी नहीं है; क्योंकि भगवान् का शक्तिपात आदि अदृष्ट निमित्त तो अवश्य होता है, पर लौकिक निमित्त नहीं है, यह सत्य है।

परामर्शोदय के पूर्वनिर्दिष्ट कारण परम्परा में गुरु से शास्त्र श्रेष्ठ है। क्योंकि गुरु जैसे शास्त्राधिगम के उपायस्वरूप हैं, उसी प्रकार शास्त्र स्वभाव प्राप्ति का द्वारभूत है। इसीलिए गुरु और शास्त्र की कारणता गौण है, मुख्य नहों। स्वभाव ही मुख्य कारण है।[२]

जिसका 'सत्तर्क' स्वभावत: (स्वत:) उदित होता है, उसके अधिकार में बाधा पहुँचा सके, ऐसी कोई शक्ति नहीं है। उसे बाह्यदीक्षा और बाह्य अभिषेक की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं संवित्ति देवियों के द्वारा दीक्षित होता है, अभिषिक्त होता है। उसकी स्वीयं इन्द्रिय-वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रमाता के साथ उसके आत्मा के साथ—ऐक्य प्रकट कर देता है। यही द्योतनकारिणी संविद देवी है। ये उसके ज्ञानक्रियाख्य प्रसुप्त चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। यही 'दीक्षा' है। जिस क्रिया के फलस्वरूप वह सर्वत्र स्वातन्त्र्य प्राप्त करता है—वही 'अभिषेक' है। बहिर्मुख चित्त की वृत्तियाँ ही अन्तर्मुखावस्था में शक्ति के नाम से कीर्तित होती हैं।

इस तरह के साधक सभी आचार्यों से श्रेष्ठ होते हैं। उसके रहते अन्य कोई परानुग्रह आदि के व्यापार में अधिकारी नहीं हो सकता। साधारण साधक गुरु से ही शास्त्र-रहस्य जान पाता है, किन्तु जिसका ज्ञान स्वभावसिद्ध है, वह 'सत्तर्क' से सभी शास्त्रों को समझ लेता है। बाह्य गुरु की सहायता की आवश्यकता उसे नहीं होती। ऐसा कोई सत्य नहीं है और न रह सकता है, जो शुद्ध विद्या के आलोक में प्रकाशित न हो सके। इसलिए इस प्रकार का साधक किसी लौकिक निमित्त का अवलम्बन न कर समस्त शास्त्रों के गूढ़ रहस्य को जान लेता है। यही प्रातिभ महाज्ञान की विशिष्टता है।

यहाँ जिस स्वभावज महाज्ञान की बातें कही गयीं, वह वस्तुत: एक होने पर भी उपाधि भेद से अर्थात् भित्ति और उसके अंश के भेद के कारण विभिन्न प्रकार

---

१. योगवाशिष्ठ में है।

२. शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणम् गुरुवाक्यत: (निर्वाणप्रकरण १/१२८/१६३) अर्थात् गुरुवाक्य से जो बोध पैदा होता है, शिष्य की प्रज्ञा उसी का कारण है। अतएव स्वपरामर्श ही गुरु और शास्त्र ज्ञानस्थल में प्रधान हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं।

के हो सकते हैं, जिसके आश्रय (उपजीव्य) में ज्ञान का उदय होता है, उसे उक्त ज्ञान की भित्ति कहा जाता है। यह अपने विमर्श और परकृत तत्तत् कर्म के अभिधायक शास्त्र के अलावा अन्य कुछ नहीं है। स्वभावसिद्ध ज्ञान किसी का आश्रय करके उदित नहीं होता, इसी कारण यह भित्तिहीन है, समझते देर नहीं लगती; किन्तु यह भी कहीं-कहीं भित्ति विशिष्ट भी हो सकता है। कैसे यह होता है, इसे बताया जा रहा है।

जिनमें स्वत: ही सत्तर्क का उदय होता है, उनके सभी बन्धन शिथिल होकर उनमें पूर्ण शिवभाव का आविर्भाव होता है। उन्हें सांसिद्धिक गुरु कहा जा सकता है। उन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, क्योंकि वे स्वात्मा में कृतकृत्य हैं, इसीलिए दूसरों पर अनुग्रह करना उनका एकमात्र प्रयोजन है।

स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्नात्
नो पारक्यं प्रति घटयते काँचन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्तारिवलभवमलो भैरवीभावपूर्ण
कृत्यं तस्य स्फुरतरमिदंलोककर्त्तव्यमात्रम्॥

योगभाष्यकार व्यासदेव ने ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वही इस प्रकार सांसिद्धिक गुरु के बारे में भी कहा जा सकता है—"तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।" इस परानुग्रह अनुग्राह्यजनों की योग्यता के तारतम्य से विभिन्न प्रकार के होते हैं। जो शिष्य निर्मल संविद विशिष्ट या शुद्धचित्त के होते हैं, उस पर अनुग्रह करने के समय इन्हें किसी उपकरण का आश्रय नहीं लेना पड़ता। केवल निष्काम या अनुसंधानहीन दृष्टि के द्वारा वे इस प्रकार के अनुग्रहार्थी योग्य शिष्य पर अनुग्रह करते रहते हैं। निजबोध रूप स्वशक्ति के संचार द्वारा शिष्य को अपने साथ समभावापन्न करना ही अनुग्रह का लक्षण है।

त्वं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविद:।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवाप्यानुग्रहात्मता॥

इस प्रकार के शिष्य पर अनुग्रह करने के लिए उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। यह निर्भित्तिक ज्ञान का उदाहरण है।

किन्तु अनुग्राह्य शिष्य यदि उस प्रकार का निर्मल संविद विशिष्ट नहीं हुआ तो उपकरण की आवश्यकता होती है, अर्थात् ऐसे मौके पर सांसिद्धिक गुरु में 'मैं इस पर इस प्रकार अनुग्रह करूँगा' ऐसा अनुसंधानमूलक प्रश्न उत्पन्न होता है। फलस्वरूप उस वक्त सभी बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है एवं शास्त्रीय मर्यादाओं का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए गुरु स्वयं परमेश्वर-रूप होने पर भी उपायभूत शास्त्रादि का श्रवण और अध्ययन के प्रति आदर दिखाते हैं। अशुद्ध चित्त

अनुग्राह्यगण नाना प्रकार के होने के कारण उनकी विभिन्न मानसिक प्रकृति के अनुसार आवश्यक उपकरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे स्थल में जिन शास्त्रों में उन उपकरणों का वर्णन है, उनकी आवश्यकता होती है अन्यथा परानुग्रह नहीं किया जा सकता। मनुष्य का चित्त भिन्न-भिन्न होने के कारण शास्त्र भी विभिन्न प्रकार के हैं, जैसे रोग विभिन्न होने पर दवाओं में भेद होते हैं, उसी प्रकार—

यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत्॥

अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति केवल एक दवा का ज्ञान प्राप्त कर सभी रोगों का इलाज नहीं कर सकता, उसी प्रकार कोई एक विशिष्ट हेतु अवलम्बन कर विभिन्न प्रकृति वाले के गुरु पद पर अधिष्ठित नहीं हुआ जा सकता। इसीलिए भित्ति को सर्वगत कहा जाता है, किन्तु कोई किसी शास्त्रानुसार तदुचित अनुग्राह्य (शिष्य) पर कृपा करते हैं। यहाँ भित्ति अंशगत है, केवल यही नहीं; तत्तत् शास्त्रात्मक अंशों में भी मुख्य और अमुख्य में भी भेद है, जैसे वेद और आगम अथवा वेद, स्मृति, पुराण, फिर आगम में भी वाम, दक्षिण, कौल, त्रिक आदि हैं। कोई यह न समझे कि इस प्रकार शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा की जाती है, इसलिए गुरु स्वभावसिद्ध प्रातिभज्ञान विशिष्ट नहीं हैं। वास्तव में गुरु को अपने लिए कुछ भी कर्त्तव्य न होने के कारण उन्हें स्वार्थ-संपादन के लिए किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। यह सब दूसरों के लिए अपेक्षित है।

इससे यह प्रतीत होता है कि गुरु स्वयं स्वतन्त्र और सांसिद्धिक परामर्श विशिष्ट होने पर भी उनके अनुग्रह-प्रदर्शन शिष्य के अधिकार के अनुसार नाना प्रकार के होते हैं। अनुग्राह्य शिष्य के निर्मल चित्त होने पर उसका अनुग्रह निरुपाय होता है, अन्यत्र सोपाय।[१] ये सांसिद्धिक गुरु ही 'अकल्पित' गुरु हैं। वे स्वयं अन्य आचार्यों की सहायता से सिद्ध नहीं हुए हैं, इस कारण इन्हें अकल्पित कहा जाता है।[२] इस प्रकार के गुरुओं के बारे में शास्त्रोक्ति इस प्रकार है—

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चित् वेत्ति तत्त्वतः।
स सिद्धिभाग् भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः॥

---

१. बोधिचित्त विवरण में है—'देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा' इत्यादि। बौद्धों का कहना है कि गुरुओं के जो पृथक्-पृथक् उपदेश हैं, वह शिष्यवर्ग की योग्यता आदि के अधिकार-भेद के अनुसार हैं, पर आपात दृष्टि से उपदेश में पार्थक्य रहने पर भी सभी सद्‌गुरुओं का मूल उपदेश एक ही है।

२. प्रातिभज्ञान अकृत्रिम है, अकल्पित गुरु भी अकृत्रिम हैं। कोई-कोई गुरु आदि की सहायता बिना लिए पूर्णज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, वह तंत्रसम्मत है। यह यदि तीव्र-तीव्र शक्तिपात के कारण होता है तो साथ ही साथ शिवत्व की प्राप्ति होती है—देह रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है। रहने पर वह शिवदेह हो जाता है।

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिंशकशासने॥

हम अकल्पित गुरु के बारे में कह चुके हैं। सांसिद्धिक होने पर भी जिनमें स्वयमुद्भूत ज्ञान की पूर्णता के अभाव के कारण गुरु आदि की अपेक्षा न कर 'मैं ही परमहंस हूँ' आदि प्रकार से केवल अपनी भावना के बल से शास्त्रज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें 'अकल्पितकल्पक' कहते हैं। उनका ज्ञान सांसिद्धिक है, इसलिए वे 'अकल्पित' आत्मभावना बल से शास्त्रवेदन क्रम से कल्पित हैं— इसी से उनका ऐसा नाम है। शक्तिपातरूपी उपाय के तीव्रतादि भेद से गुरु अनेक प्रकार के होते हैं।

इनके स्वयं-प्रवृत्त ज्ञान की पूर्णता केवल आत्म भावना-रूप निमित्त द्वारा होती है—ऐसी बात नहीं है। ध्यान, जप, व्रत, होम आदि अन्यान्य निमित्तों द्वारा भी हो सकती है। इन सब भिन्न-भिन्न उपायों के प्रभाव से इस महाज्ञानी को अकृत्रिम (अकल्पित) महान् अभिषेक प्राप्त होता है—शास्त्रज्ञानादि में अधिकार प्राप्त होता है। यह अभिषेक गुरु आदि के द्वारा अनुष्ठित नहीं होता।

इसके अलावा 'कल्पित' और 'अकल्पिताकल्पित' गुरु भी हैं, जिनके सत्तर्क अपने आप उदित नहीं होता, उनके लिए अकल्पित या अन्य किसी गुरु को यथाविधि और भक्ति के शुश्रूषादि के द्वारा प्रसन्न कर शास्त्रसम्मत क्रम के अनुसार उनसे दीक्षा लेकर शास्त्रार्थ ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था है। इस प्रकार गुरु-आराधना क्रम में उनमें शुद्धविद्या का उदय हो सकता है। बाद में वे अभिषेक प्राप्त कर परानुग्रहादि के बारे में अधिकार प्राप्त करते हैं। इन्हें कल्पित गुरु कहा जाता है, किन्तु कल्पित अर्थात् आचार्यान्तर द्वारा निष्पादित होने पर भी वे सभी पाशों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं।

कोई-कोई कल्पित होने पर भी गुरु आदि की अपेक्षा न करके अपनी प्रतिभा-बल पर लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्व सम्पर्क से आकस्मिक रूप में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं और सभी रहस्य समझ लेते हैं। कल्पित होने पर भी इनका बोध स्वतः प्रवृत्त होने के कारण ये अकल्पित हैं। ऐसे गुरु को 'कल्पिता-कल्पित' नाम से अभिहित किया जाता है। इनका कल्पितांश की अपेक्षा अकल्पित भाग श्रेष्ठ होता है।

उसका प्रारब्ध नहीं रहता। यह स्वच्छन्दावस्था है। यदि यह मध्यतीव्र शक्तिपात के कारण होता है तो प्रातिभज्ञान का उदय हो जाता है—बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं होती। बौद्धधर्म में भी कुछ ऐसा ही माना है। श्रावक से प्रत्येक बुद्ध की यही विशेषता है कि वह 'अनाचार्यक' है—भीतर से ज्ञान पाते हैं, गुरु निरपेक्ष हैं। श्रावक बाह्यगुरु सापेक्ष ज्ञानशाली हैं, किन्तु यह ठीक-ठीक अकल्पित गुरु के सादृश्य नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक बुद्ध हेतु प्रत्यय विचार के द्वारा अपना परिनिर्वाण चाहता है। अकल्पित गुरु इनसे अनेक ऊपर हैं, पर महायान साधक कुछ-कुछ अकल्पित की तरह हैं। वह साधक सर्वज्ञत्व और सर्वसामर्थ्य चाहते हैं—सर्वजीवों की मुक्ति के लिये।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जा सकता है कि ये चार प्रकार के गुरु ही मूल में कल्पित और अकल्पित, इन दोनों भेदों का परस्पर मिश्रणजन्य अवान्तर विभाग हैं। फलतः कल्पित और अकल्पित गुरुओं में कोई भेद नहीं है—कल्पित गुरु भी शिष्य का पाशच्छेदन करके शिष्यत्व की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। क्योंकि स्वयं परमेश्वर ही आचार्य देह में अधिष्ठित होकर जीव का बन्धन मोचन करते हैं—वर्ना एक जीव दूसरे जीव का उद्धार नहीं कर सकता। शास्त्रवाणी है—

यस्मान् महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः॥

अर्थात् स्वयं परमेश्वर मानव-मूर्ति परिग्रह करके कृपापूर्वक गुरुरूप से (माया) मग्न जीवों का उद्धार करते हैं।

यहाँ हम एक मनुष्य गुरु के बारे में कह रहे हैं। वास्तव में सिद्धगुरु और दिव्यगुरु भी हैं। मूल में सर्वत्र एकमात्र परमेश्वर ही अनुग्राहक हैं। उनके अलावा अन्य कोई अनुग्रह नहीं कर सकता, पर गुरु का जो प्रकार भेद किया गया है, उसका कारण है। ज्ञानेन्द्रियों की प्रणाली का भेद किसी भी उपाय से हो या बिना उपाय के हो—ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसका कार्य होगा। लकड़ी से लकड़ी घिसकर आग जलाना जैसा ही आग के स्पर्श से जलाना—दाहिका-शक्ति दोनों में समान रूप से रहती है, गोकि इन दोनों अग्नि में पार्थक्य है। इसलिए फल और सामर्थ्य में अभेद होने पर भी ऊँचा आसन अकल्पित गुरु को दिया जाता है। नित्यसिद्ध परमशिव भी जो बन्धन से मुक्त होकर शिवत्व प्राप्त करते हैं, इन दोनों में सर्वज्ञत्वादि धर्म समान रूप से रहने पर भी जैसे परमशिव का उत्कर्ष अधिक मानना पड़ता है, अकल्पित गुरु की महिमा भी उसी प्रकार अधिक मानकर स्वीकार करना पड़ता है। वास्तव में अकल्पित गुरु के सामने कल्पितादि गुरु या तो चुपचाप निष्क्रिय रहते हैं या उनका अनुवर्तन करते हैं।

अतएव सद्‌गुरु कहने का अर्थ है साक्षात् परमेश्वर या उनका अनुग्रह प्राप्त तत्साधर्म्यापन्न जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष। यह अधिकारी देवता, सिद्ध और मनुष्य—तीनों ही हो सकते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि असद्‌गुरु में गुरुत्व कहाँ है? गुरु शब्द का वास्तविक अर्थ ग्रहण करने पर इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो सकती है। 'गुरु' शब्द का अर्थ संकुचित भाव से लेने पर कहा जा सकता है कि माया से उद्धार न कर सकने पर भी ऊर्ध्वलोकों के भोगैश्वर्य और अजरत्व, अमरत्व आदि परिमित सिद्धियाँ दे सकते हैं, उन्हें भी व्यवहार की दृष्टि से गुरु कहा जा सकता है। मायिक जगत् में भिन्न-भिन्न ऊर्ध्वस्तर समूह में आनन्द और भोग की कमी नहीं है। पृथ्वी तत्त्व से लेकर कला तत्त्व तक प्रत्येक तत्त्व में ही भोग्य विषय और

भोगोपकरणों से समन्वित नाना भुवन हैं। इन सब भुवनों में गुरु हैं। इनके अलावा भुवनेश्वरगण भी ज्ञानसम्पन्न भी अधिकारी पुरुष हैं। योगी सिद्धावस्था प्राप्त करने के पूर्व ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं कि जिसके द्वारा व्यक्तिविशेष को, जिस तत्त्व में वह है—वहाँ से उठकर अन्य अभिलषित तत्त्व में एवं उस तत्त्व के भुवन-विशेष में, वहाँ का ऐश्वर्य भोगने के लिए भेज सकते हैं। इसके लिए दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उन-उन भुवनेश्वरों की आराधना के द्वारा भी गोकि उन सब भुवनों में जाना और निवास भी किया जा सकता है।[१] यह सब भोग लोक हैं। इन स्थानों से भोग के अन्त में पतन होना निश्चित है, पर वहाँ अगर सद्गुरु मिल जायँ तो अलग बात है। यह सभी गुरु भोगप्रद हैं। ये दिव्यज्ञान नहीं दे सकते। इसीलिए माया पार नहीं कर पाते। यही लोग पूर्वोक्त असद्गुरु हैं।

दूसरी ओर ऐसे भी गुरु हैं जो ज्ञान दे सकते हैं, किन्तु भोग या विज्ञान नहीं दे सकते। ज्ञान देकर वे माया से मुक्त कर देते हैं, किन्तु विज्ञान के अभाव से ज्ञानी अधिकार प्राप्त नहीं कर पाता, इसीलिए वे परोपकार करने में समर्थ नहीं होते। ऐसे गुरु ज्ञानी गुरु होते हैं, योगी नहीं। वास्तविक सद्गुरु ये भी नहीं हैं। सिद्ध योगी होने के कारण एक ओर योगी और ज्ञानी दोनों हैं, वे ही सद्गुरु हैं, वे विज्ञान-दान करते हैं, इसलिए शिष्य के भोग और मोक्ष दोनों का विधान कर सकते हैं।

'ब्रह्मानन्दं परमसुखदं' कहते हुए जिन सद्गुरु को नमस्कार किया जाता है तथा जिन्हें गुरु प्रणाम में 'तत्' पद का प्रदर्शक कहते हुए ज्ञानांजन शलाका के द्वारा अज्ञानतिमिरान्ध के ज्ञानचक्षु खोल देनेवाले कहा जाता है, वे दोनों एक ही हैं। साधारणतया गुरु शब्द से समझ में आता है। क्योंकि गुरुरूपी भगवान् अथवा गुरुदेह में अधिष्ठित भगवान् अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा (दीक्षा के द्वारा) पशु के स्वत:सिद्ध दिव्यज्ञान रूप चक्षुओं का अवरोध करने वाले अनादिमल का नाश कर देते हैं, जिससे उसका पशुत्व मिटकर उसमें सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व की अभिव्यक्ति होती है और शिवसाधर्म की प्राप्ति होती है।

इस क्रियाशक्ति का दर्शन आदि नाना उपायों से हो सकता है एवं तदनुसार दीक्षा में प्रकार-भेद होता है। शिष्य के उद्धार करने का समर्थ गुरु के लक्षण हैं :

योगवासिष्ठ में है—

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दान् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेत् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः॥

(निर्वाण प्रकरण)

---

१. तन्त्रशास्त्र में भोगदीक्षा की बात भी है, पर वह अलग बात है। वह सद्गुरु से प्राप्त होती है। शिष्य भोगार्थी होता है, इसलिए सद्गुरु उसे दीक्षा के द्वारा मनोवांछित भोग के लिए तदुचित लोक में भेजते हैं। क्रमशः भोग क्षय करके उठते-उठते वह भी अन्त में पूर्णत्व प्राप्त करता है, परन्तु दीर्घकाल के बाद सम्भव होता है।

अर्थात् जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्शन या शब्द के द्वारा शिष्य के देह में शिवभाव का आवेश उत्पन्न करा सकते हैं वे ही 'देशिक' या गुरु हैं। कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर षट्चक्र भेद करके ब्रह्मरन्ध्र में परशि के साथ जा मिलती है तब यह आवेश होता है। सत्यसंकल्प गुरु केवल एक बार कृपापूर्ण दृष्टिपात करके ही इस सुमहान् कार्य का सम्पादन कर सकते हैं।

योग्य शिष्य का उद्धार करना और अयोग्य शिष्य को योग्य बनाकर उद्धार करना, यही गुरु का कार्य है। बोधसार में नरहरि ने कहा है—

ततद्विवेकवैराग्ययुक्तंवेदान्तयुक्तिभिः।
श्रीगुरुः प्रापयत्येव अपद्यमपि पद्यताम्॥
प्रापय्य पद्यतामेनं प्रबोधयति तत्क्षणात्॥

अर्थात् श्रीगुरु विवेक वैराग्ययुक्त वेदान्त के युक्तियों के द्वारा अपद्य को भी पद्यरूप में परिणत कर देते हैं। बाद में उसे क्षण भर में जगा देते हैं। भास्कर राय ने ललिता सहस्रनाम के भाष्य में स्पष्ट कहा है—"अयोग्येपि योग्यतामापाद्य श्रीगुरुसूर्यः बोधयाति"—अर्थात् श्रीगुरुरूपी सूर्य अयोग्य को योग्य बनाकर प्रबुद्ध बना देते हैं।[१]

वैदिक शास्त्र की भाँति आगम में भी श्रौत, चिन्तामय एवं भावनामय—इन तीन प्रकार के ज्ञान का विवरण मिलता है।[२] इनमें पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञान में

---

१. नवचक्र के तन्त्र में है—

'पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयं।
यो वै सम्यक् विजानाति स गुरुः परिकीर्त्तितः॥'

अर्थात् जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत—इन चारों को सम्यक् रूप से जानते हैं, वे ही गुरु हैं।

गुरुगीता के अनुसार—कुण्डलिनी शक्ति, हंस, बिन्दु एवं निरंजन इन चारों को यथाक्रम पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत कहा गया है, यथा—

'पिण्ड कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः प्रकीर्त्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरंजनम्॥'

स्वच्छन्द संग्रह में भी यही श्लोक है, पर वहाँ अन्तिम पद में है—"रूपातीतं हि चिन्मयम्।" योगिनी हृदयतन्त्र में इस क्रम से चारों का उल्लेख है, किन्तु दादूदयालजी के शिष्य सुन्दरदास अपने 'ज्ञान समुद्र' ग्रन्थ में ध्यान के प्रसंग में—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इस परिभाषा को माना है, (श्लोक ७८-८४)। जैन ग्रन्थ में भी इन चार प्रकार के ध्यानों की बातें पायी जाती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्ण और शुद्धतम ज्ञान ही गुरु के लक्षण हैं।

२. बौद्धग्रन्थों में भी श्रुतचिन्ताभावनामयी प्रज्ञा की बातें हैं। शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार की प्रज्ञाकर कृत पंचिकानाम्नी टीका में इस प्रज्ञा को भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा से पृथक् किया गया है। अभिधर्म कोश में भी श्रौत ज्ञानादि का विवरण है। वैभाषिक मत से श्रुतिमयी प्रज्ञा का

हेतु हैं। विक्षिप्त चित्त के शास्त्रार्थ परिज्ञान को श्रौतज्ञान कहा जाता है। सर्वापेक्षा निकृष्ट शास्त्रार्थ आलोचना करके 'यहाँ यही उपयोगी है', इस प्रकार आनुपूर्वी द्वारा व्यवस्था करना चिन्तामय ज्ञान है। यह मन्दाभ्यस्त और स्वभ्यस्त भेद से दो प्रकार का है। स्वभ्यस चिन्तामय ज्ञान से भावनामय ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके बारे में पण्डितों का विचार है कि यही मोक्ष का कारण है। वास्तव में यह श्रेष्ठतम ज्ञान है। इससे योग और योगफल की प्राप्ति होती है। भावनामय ज्ञान के अभाव में अशुद्ध शिष्य को मायिक तत्त्व से उद्धार करके इच्छानुसार 'स-कल' सदाशिव में अथवा निष्कल परमशिव में युक्त करना सम्भव नहीं है, अर्थात् गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी होने पर भी भावनाविशेष के अभाव में उक्त तत्त्वविशेष का साक्षात्कार न करके अशुद्ध रहने पर पूर्वोक्त प्रकार से उद्धार और योजना-कार्य करने में समर्थ नहीं होता। दूसरी ओर सिद्धयोगी मायिक तत्त्वों की सिद्धि प्राप्त कर भी सदाशिव आदि उत्तम पद का स्वभ्यस्त ज्ञानी होने के कारण योजना कर सकता है। यद्यपि योगी उन-उन तत्त्वों की सिद्धि प्राप्त करता है, तद्यपि योगबल से तत्तत् तत्त्व में शिष्यों की योजना नहीं कर सकता। क्योंकि निम्नवर्ती तत्त्व में जिस योगज की सिद्धि होती है, वह विमोचन से नहीं होती।

प्रश्न यह है कि जिसके प्रभाव से योगी सारे जगत् का बन्धन काट सकता है, वह सदाशिव से उच्चतर के तत्त्व की योगसिद्धि उसे क्यों नहीं होती? इसका समाधान यह है कि यद्यपि योगी की भाँति ज्ञानी भी अभ्यासहीन जरूर है, तद्यपि ज्ञानी सर्वथा स्वभ्यस्त भावना के विज्ञान प्रसंग में शिवभावं प्राप्त होता है, इसलिए दीक्षाक्रम में वह योगी की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिए योगियों के प्रकार भेद के बारे में भी जरा साधारण ज्ञान आवश्यक है। आगम के मत से संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध भेद से योगी चार प्रकार के होते हैं। जिस साधक को योग का उपदेश-मात्र प्राप्त हुआ है, उसे 'संप्राप्त' एवं योगाभ्यास में निरत साधक को 'घटमान' कहते हैं। ये दोनों प्रकार के साधक जब स्वयं ही योग अथवा ज्ञान में सुप्रतिष्ठ नहीं हैं, इसलिए दूसरों का उपकार करने में समर्थ नहीं हो सकते, पर जिनका योग सिद्ध हो गया है, उनमें स्वभ्यस्त ज्ञान अवश्य रहता है। अपने इस ज्ञान के द्वारा वे दूसरों को मुक्त कर सकते हैं। दूसरे प्रकार से अर्थात् सिद्धि के प्रभाव से नहीं कर सकते। योगी और ज्ञानी में यही सर्वश्रेष्ठ हैं, कारण योगी होकर

विषय नाम और अर्थ एवं भावनामयी प्रज्ञा का विषय अर्थ है। सौत्रांतिक मत से श्रुतप्रज्ञा = आप्तप्रमाणज निश्चय, चिन्ताप्रज्ञा = युक्तिनिर्ध्यानज निश्चय; भावनाप्रज्ञा = समाधिज निश्चय है, जो शीलवान् और श्रुतचिन्ता-प्रज्ञावान हैं, वही भावना का अधिकारी है। (द्रष्टव्य—अभिधर्मकोश-६)

भी ये ज्ञानी हैं। जो 'सुसिद्ध' योगी हैं, वे व्यवहार भूमि के अतीत हैं। वे किसी भी समय अपने स्वरूप से स्खलित नहीं होते। वे किसी भी स्थान में रहें, किसी भी प्रकार का फल भोग करने पर भी हीन नहीं होते, निर्विकार रहते हैं। वे नररूपी विरूपाक्ष हैं। एकमात्र उनमें ही सकलध्वार सिद्धि उत्पन्न हुई है, किन्तु वे गुरुभाव अवलम्बन कर साक्षात् रूप से अमर्त्यों को मुक्त नहीं करते—विद्येश्वरगणों के द्वारा करते हैं।

अतएव ज्ञान और योग का विचार करके मालिनी तन्त्र में कहा है कि मुमुक्षु के लिए स्वभ्यस्त ज्ञानवान गुरु श्रेष्ठ हैं। इसलिए स्वभ्यस्त विज्ञान ही गुरु का एकमात्र लक्षण है—योगत्व गुरु-लक्षण नहीं है।

पर योगी-गुरु भी हैं। यह सत्य है कि ज्ञानी अपेक्षाकृत विशिष्ट होते हैं। किस स्थान पर ज्ञानी गुरु का कर्त्तव्य है और किस स्थान पर योगी गुरु का कर्त्तव्य है या त्याज्य है—इस बारे में आचार्य अभिनव के गुरु शंभुनाथ ने जबानी कहा है। उन्होंने कहा है कि मोक्षज्ञानार्थी के गुरु को स्वभ्यस्तज्ञान होना आवश्यक है। अन्यविध गुरु प्राप्त होने पर उसके लिए ऐसे गुरु को त्याग देना उचित है। कारण—

आमोदार्थी यथा भृंगः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्ब्बन्तरं व्रजेत्॥

अर्थात् जो गुरु विज्ञान-दान में समर्थ नहीं हैं, वे शक्तिहीन हैं। स्वयं अज्ञ हैं, वे दूसरे का उपकार कैसे कर सकते हैं? प्रश्न हो सकता है कि भावना ही तो मुख्य है, अज्ञ गुरु से भी शिष्य की भावना के कारण सुफल हो सकता है। इसलिए अज्ञ गुरु के त्याग की क्या आवश्यकता है? जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष देखकर भी अधम पद स्थित रहता है, वह अभागा है। जो भोग, मोक्ष और विज्ञानप्रार्थी है, उसका गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी योगसिद्ध होना आवश्यक है। ये तीसरे प्रकार के योगी हैं। जो मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु ज्ञानी है। इस गुरु से भोग सिद्ध नहीं होती और जो मितयोगी हैं, अर्थात् जो योगी घटमान और सिद्धावस्था के मध्य के हैं, वे गुरु होने पर केवल भोगांश में समर्थ हैं, वे मोक्ष और विज्ञान-दान नहीं कर सकते। जो योगी केवल संप्राप्त और घटमान अवस्था में हैं, वे शिष्य के मोक्ष और विज्ञान विधान की बात तो दूर रही, वे भोग तक नहीं दे सकते, वे केवल उपदेश में कुशल होते हैं। जो मितयोगी नहीं हैं, ऐसे योगाभ्यासी की अपेक्षा मितज्ञानी गुरु की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे ज्ञान के उपदेश द्वारा क्रमशः मुक्त करने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार गुरु यदि मितज्ञानी हों तो शिष्य का क्या कर्त्तव्य है? एक ही पूर्ण ज्ञानी गुरु या सत्‌गुरु न मिलने पर भिन्न-भिन्न परिमितज्ञान गुरुओं से अंशांशिक क्रम

से ज्ञान लेकर स्वात्मा में अखण्डमण्डल पूर्ण-ज्ञान का सम्पादन करे। एक मितज्ञानी से पूर्णज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए स्वकीय ज्ञान पूर्ण करने के लिए विशेष प्रयत्न करके असंख्य गुरुओं की आवश्यकता होती है, इसमें प्रत्यवाय नहीं होता।

भगवद् अनुग्रह के बिना सद्गुरु नहीं मिलते। तीव्र शक्तिपात होने पर पूर्णज्ञान-सम्पन्न गुरु मिल जाते हैं—जिनकी कृपा से अनायास ही स्वात्मविज्ञान पूर्णरूप से उदित होता है, तब फिर बार-बार गुरु करने की आवश्यकता नहीं होती।

हम प्रातिभ ज्ञान के बारे में पहले बता चुके हैं। यह अनुत्तर महाज्ञान स्वरूप है। यह स्वयमुद्भूत होने के कारण सांसिद्धिक है।[1] किरणागम में है—दीक्षा के द्वारा जिस प्रकार मुक्ति होती है, उसी प्रकार प्रातिभ के द्वारा भी मुक्ति होती है। पर दीक्षा गुरु के अधीन है, प्रातिभ स्व-स्वभाव-मात्र है। यही विलक्षण्य है, किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर समझ में आ जाता है कि जितने पुरुषों ने केवल मात्र स्वप्रतिभा के द्वारा मोक्षानुभव का निष्पादन किया है, उन लोगों को भी कम-से-कम किंचित् मात्रा में गुरु का अनुग्रह प्राप्त करना पड़ता है। कारण, इस अखिल जगत् के सभी भावों के विजृम्भण के मूल में परमेश्वर का स्वतन्त्र खेल मौजूद है। लिहाजा उनकी आज्ञा के बिना उन सभी पुरुषों की तादृश प्रतिभा सम्पन्न हो ही नहीं सकती।

प्रातिभ ज्ञान दो प्रकार के हैं—(क) गुरु और आम्नायगत एवं (ख) स्वाभाविक (शुद्ध)। (क) शिव, शक्ति और नर या जीव—इन तीनों की समष्टि ही विश्व है। इनमें शिव कर्त्ता, शक्ति कारण (कारण से कर्म और कर्ता का आवेश एवं कर्तृत्व स्पर्श है) एवं जीव कर्म (या बन्धन का विषय)। इसीलिए बद्ध जीव गुरु और शास्त्रों के लिए उपदेश्य है—उसमें वध्य, वद्ध और वन्धकत्व-विभाग अवभासपूर्वक महाज्ञान के उदय होने की सम्भावना है। गुरु और शास्त्र के माहात्म्य से शिवादि तत्त्वत्रय ही प्रातिभ-ज्ञान रूप में आविर्भूत होते हैं। जब साधक के पाश गुरु कर्तृक दीक्षारूपी असि द्वारा छिन्न हो जाता है, जब आगम से भावना भावित होता है, तब उसका वास्तविक प्रातिभ-तत्त्व का विकास होता है।[2]

---

१. पातंजल दर्शन और उसके व्यास भाष्य में प्रातिभ की बातें हैं। इसे 'विवेकज ज्ञान' कहा गया है एवं अनौपदेशिक, सर्वविषयक, सर्वथाविषयक और अक्रम कहकर वर्णन किया गया है। यही तारक ज्ञान है। आगमों में भी ठीक इसी प्रकार की बातें हैं। 'अनौपदेशिक' शब्द से जो समझ में आता है, तन्त्र के 'गुरुशास्त्रानपेक्ष' शब्द में भी फलतः वही समझा जाता है।

२. तदागमवशात् साध्यं गुरुवक्त्रान्महाधिये।
शिवशक्तिकरावेशाद् गुरुः शिष्यप्रबोधकः॥
अधरोत्तरगैर्वाक्यैः प्रभुशक्त्युपवृंहितः।
तच्छक्त्या सुप्रबुद्धस्य ध्वस्तमायामलस्य च॥

जैसे भस्माच्छिदत अग्नि का मुख वायु आदि के प्रभाव से परिस्फुट होता है, जैसे समय पर उप्त और संसिक्त बीज अंकुर-पल्लवादि के रूप में अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार प्रातिभज्ञान भी गुरुपदिष्ट योग-योगादि के द्वारा व्यक्त होता है। यही प्रातिभज्ञान अन्त:करण सम्पाद्य सेन्द्रिय है।

(ख) स्वाभाविक प्रातिभ=विवेकज ज्ञान। यह अन्त:करण द्वारा सम्पाद्य न होने के कारण अतीन्द्रिय है। अतीन्द्रिय एवं अप्रमेय संवित्-तत्त्व विचार[१] अवस्था प्राप्त कर जब स्वपरामर्श रूप में परिणत होता है तब उसे 'विवेक' कहा जाता है। तब पति, पशु और पाशज्ञान स्वयं ही उदित होता है, किसी की अपेक्षा नहीं रहती। यही है विवेकज प्रातिभज्ञान। यही सम्यक् ज्ञान है। उस समय सभी इन्द्रियगम्य और अन्तकरणगम्य संकुचित ज्ञान अन्यापेक्षा त्याग करके उसी महाप्रकाश में विश्रान्त होता है। प्रदीप की क्षीण प्रभा जिस प्रकार सूर्य की किरणों में निष्प्रभ हो जाती है, यह भी ठीक उसी तरह की है। विवेक के उत्पन्न होने पर शब्दादि इन्द्रियगोचर वस्तुओं में देश, काल और आकारगत विप्रकृष्ट आदि विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेक गाढ़ा होने पर सिद्धि या ऐश्वर्य अच्छा नहीं लगता, उस समय शिवमय परम सत्य में विश्राम आता है, समस्त भावों से विवेक होने के कारण समस्त विषयों के प्रति विराग उत्पन्न होता है। दर्पण में जिस प्रकार अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार सर्वत्र भीतर और बाहर शिव दिखाई देते हैं, अर्थात् शिवैकघन रूप में विश्व से साक्षात्कार होता है। एक ही समय भीतर और बाहर शिव का दर्शन होता है। प्रातिभ का यही माहात्म्य है।

इस प्रकार उसका हेय या उपादेय कुछ न रहने के कारण अकिंचित्कर परिमित सिद्धि में निबन्धनभूत प्रतिनियत ध्यानादि का त्याग हो जाता है और

दीक्षासंच्छिन्नपाशस्य भावनाभावितस्य च।
विकाशं तत्त्वमायाति यत्तज—ज्ञानमिदं शिवे॥
प्रातिभं तत् समाख्यातं तत्त्वज्ञानस्य भावनात्।

१. त्रिपुरा रहस्य में उल्लेख है—
'राधिता परमा देवी सम्यक् तुष्टा सती तदा।
विचाररूपतां याति चित्ताकाशे रविर्यथा।' (२/७०)
अर्थात् हृदयस्था सभी की आत्मस्वरूपा अन्तर्यामिनी चिन्मयी महेश्वरी को आराधना के द्वारा प्रसन्न करने पर वे साधक के चित्त में विचार के रूप में उदित होती हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि दीर्घकाल तक 'सद्गुरु' द्वारा क्रम के अनुसार अकपट भाव से अर्थात् फलाभिसन्धि रहित होकर इस हृदयवासिनी आत्मदेवता की आराधना करने पर उनकी कृपा उपासक के चित्त में विचाराकार रूप में स्फुरित होता है (२/२९-८२)। दूसरी जगह है कि इस विचार से क्रमशः सभी आध्यात्मिक अवस्थाओं का विकास होता है और अन्त में प्रत्यभिज्ञा का उदय होकर निर्विकल्प आत्मस्वरूप में स्थिति होती है।

(वही, १७/६३-६८)

एकमात्र परा सम्बित का परामर्शन होता है। उस समय सभी सिद्धि सम्पद् स्वप्न और इन्द्रजाल जैसा प्रतीत होता है। प्रातिभ के इस लक्षण को देखते ही साधक हेयोपादेय तत्त्वज्ञ होकर सर्वदा विभु शिव का ध्यान करता है। सिद्धि केवल पर प्रत्यय निमित्त है—वर्ना देहान्त के बाद मुक्ति का भरोसा क्या? किन्तु जो पर-सत्त्व में दृढ़ भावना विशिष्ट है, वह जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाती है।

एक बात और। विवेक का विकास होने पर अभ्यासवश शाप और अनुग्रह कार्यों के लिए सामर्थ्य उत्पन्न होता है। तब साधक बालक्रीड़ा की तरह सिद्धियाँ अनासक्त होकर मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करते हुए परतत्त्व में ही विश्रान्त रहता है। इसीलिए स्वयं मुक्त होकर दूसरों को मुक्त करने में सफल होता है।

वद्ध अणु भूतेन्द्रियादि के द्वारा आच्छन्न रहता है, इसलिए संसार-मार्ग पर परिभ्रमण करने के लिए बाध्य है। यदि अणु प्रतिभायुक्त हो, यदि उसमें विवेकोदय हो गया हो तो शक्ति तत्त्व रूप में वर्णित होता है। वह उस समय शुद्ध विद्यादशा में अधिष्ठित रहता है। इसीलिए अनुग्रह निग्रहादि कार्यों में उसकी प्रवणता जोर देती है। इस विवेक के विकास के कारण जीव भवसागर से मुक्त होकर कारणषट्क को त्याग करके शिवत्व प्राप्त करता है।

अतएव शिव, शक्ति और जीव ये तत्त्वत्रयी प्रातिभ विज्ञान रूप में ही आविर्भूत होते हैं—इसमें सन्देह नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि सद्गुरु स्वयं परमेश्वर हैं। तन्त्र मत से वे ही परमशिव हैं। वे स्वातन्त्र्य-शक्तिमम—पंचकृत्यकारित्व, उनका ही आधारण धर्म है। इसी पञ्चकृत्य में जीव का अनुग्रह अन्यतम है। अन्यतम ही क्यों, प्रधान है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि उनके अन्यान्य कृत्य भी इसी के अंगीभूत हैं।

वे साक्षात् अनुग्रह करते हैं अथवा किसी गुरुदेह में अधिष्ठित होकर अनुग्रह करते हैं। उनका साक्षात् अनुग्रह निरधिकरण और दूसरा साधिकरण है। शास्त्रों का कहना है कि जब तमः और अनादि प्रवृत्त मल का भी वामाख्या भगवत् शक्ति का आवरणात्मक अधिकार निवृत्त होता है तब जीव में कैवल्याभिमुख भाव उदित होता है। इस भाव के उदय होने पर जगदुद्धार-प्रवण परमेश्वर अणु आत्मा की अनन्त दृकशक्ति और क्रियाशक्ति अर्थात् चैतन्य को प्रकट कर देते हैं। दृक क्रिया का आनन्त्य पशुओं में भी है, पर मल के अवच्छेदवश वह आवृत्त रहता है। फलस्वरूप आवरण अपगत रहने के कारण वह अभिव्यक्त होता है।

परमेश्वर हर समय अनुग्रह कर सकते हैं और करते हैं। जगत् के स्वाप, संहार, सृष्टि, स्थिति—सभी अवस्थाओं में उनका अनुग्रह प्रकट होता है, पर अनुग्रह के कारण कुछ तारतम्य घटता है। गोकि अनुग्रह का मुख्य फल है—मुक्ति, वह तो होती है, पर वह निरधिकार हो सकता है और साधिकार हो

सकता है। निरधिकार मुक्ति ही शिवत्व है, साधिकार विद्येश्वरादि अधिकारी का पद विशेष है। स्वापावस्था में अनुग्रह के साथ-साथ शिवत्व होता है—केवल अधिकारप्राप्ति नहीं होती। कारण, उस समय जगत् के रहने के कारण अधिकारी की आवश्यकता नहीं होती। संहार और सृष्टिकाल में अनुग्रह के कारण शिवत्व लाभ अथवा मलपाक के वैचित्र्यानुसार ऐश्वर्य प्राप्तिरूप साधिकार-मुक्ति होती है। जो लोग संहार-काल में साधिकार अनुग्रह प्राप्त करते हैं, वे सृष्टि अधिकारी होते हैं और जो लोग सृष्टिकाल में साधिकार अनुग्रह प्राप्त करते हैं, वे पर-विद्येश्वर आदि अवस्था को प्राप्त होते हैं। किसी-किसी का शिवत्व लाभ नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। कारण, मलपाक एवं परमेश्वर का अनुग्रह—किसी में भी कालनियम नहीं है। अद्वैतदृष्टि से भी उसका स्वातंत्र्य पर्यनुयोग के अयोग्य है—यह कहना पर्याप्त है। यह जो तीन कालों का अनुग्रह है, यह निरधिकार भगवान् का अनुग्रह है, किन्तु जगत् के स्थितिकाल में साधारणतया[१] उनका अनुग्रह उस प्रकार साक्षात् या निरधिकरण नहीं होता, गुरु या आचार्य रूप अधिकरण में आवेशपूर्वक होता है। स्थितिकाल में परमेश्वर प्रशान्ति प्राप्त करने के लिए योग्य चिदयुक्त सभी अणुओं पर योग्यतानुसार अनुग्रह करते हैं तथा किसी को मन्त्रपद, किसी को प्रतिपद और किसी को सर्वोच्च ईशान-पद प्रदान करते हैं।[२] इन सभी पदों को सालोक्यादि नाम से समझना चाहिए। ये सभी अ-परममुक्ति हैं। गोकि अति उन्नत योग्यता विशिष्ट कोई-कोई परामुक्ति और शिवत्व प्राप्त करते हैं। साधिकार मुक्ति में (अनन्तादि) मन्त्र महेश्वर पद श्रेष्ठ है—इसके ऊपर अन्य कोई पद नहीं है एवं यहाँ च्युति की सम्भावना नहीं है।[३] इसके बाद अपवर्ग की प्राप्ति होती है; केवल अधिकार समाप्ति की प्रतीक्षा रहती है। महेश्वर का पद मध्यम और रुद्रों का पद निकृष्ट होता है। इन दोनों पदों से च्युति हो सकती है—कारण तत्तद् भुवन प्राप्तिरूपी मोक्ष महाप्रलय तक अवस्था करता है। पुनर्वार सर्गारम्भ में अवशिष्ट कर्मवश अधोगति की सम्भावना रहती है। फलतः ये दोनों पद प्राप्त करना ठीक मुक्ति नहीं है—मुक्ताभास-मात्र है, पर इन दोनों पदों से मुक्ति नहीं

---

१. स्थितिकाल में भी अत्यन्त मलपाक के कारण निरधिकरण अनुग्रह हो सकता है—पर अति विरल। (मृगेन्द्रागम, सटीक, पृष्ठ १६५)।

२. पंचाष्टकादि रुद्रगणों का पद = रुद्र-पद; सप्तकोटि मन्त्रगणों का पद = मन्त्रपद; अ-पर मन्त्रेश्वरगणों का पद = पतिपद; ईश्वर (अनन्त), सदाशिव और शान्तलक्षण ईशान पद = ईशान-पद।

३. मायोत्तीर्ण होने के कारण कर्माभाववश च्युति का डर नहीं। रौरव में लिखा है—
भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्रीनिकायैरूपेताः।
स्रस्तोत्कण्ठाः शिवपदपरैश्वर्यभाजो भवन्ति॥

हो सकती, ऐसी बात नहीं है। मल परिपाक के कारण दीक्षा के द्वारा उक्त पदद्वयों में मोक्ष असम्भव नहीं है, कारण प्रत्येक भुवन में गुरु हैं।

परमेश्वर जगत् की स्वापावस्था में कृपा करते हैं, उसमें अनुग्राह्य जीव की योग्यता पर विचार नहीं करते। कारण, उस समय अधिकार का उपयोग न रहने के कारण तन्मूलक विभिन्न प्रकार की योग्यता-परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। योग्यता वैचित्र्यमूलक अनुग्रह स्थितिकाल के लिए है, स्वापकाल के लिए नहीं, पर अत्यन्त मलपाक के स्थान पर तीव्रतम वैराग्यावस्था में, स्थितिकाल में भी स्वापकाल की भाँति अवस्था किसी-किसी की हो सकती है, मगर ऐसी घटना देखने में कम आती है।

तमःपति या दृक्क्रिया निरोधक वामदेव नाम की रोधकता किंचित् शिथिल होने पर भी किंचित् अवशिष्ट रह जाने से शरीरादि में नाना प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं, अर्थात् परमेश्वर की तिरोधान-शक्ति से अधिकार वितरण होने पर अनुग्रह या शक्तिपात के सभी लक्षण उत्पन्न होते हैं। शक्तिपात ही अपनुरावृत्ति का कारण है। यह सभी लक्षण देखने पर शक्तिपात हुआ है, समझकर गुरुगण दीक्षा देते हैं, किन्तु अशरीरियों के शक्तिपात के लक्षणों को गुरु लोग समझ नहीं पाते। इन लक्षणों में तीव्र मुमुक्षा, संसार-वैराग्य एवं परमेश्वर भक्तिपरायण में भक्ति और तत्शासक शास्त्र में श्रद्धा—भक्तिपरायण में भक्ति और तत्शासक शास्त्र में श्रद्धा—ये सब मुख्य हैं। पाश की शिथिलता जितनी अधिक होगी, उतना ये सब लक्षण अधिक प्रकट होंगे।

किसी-किसी का ख्याल है कि स्वयं भगवान् जिन लोगों पर साक्षात् अनुग्रह करते हैं, वे सब जगत् के आदि गुरु हैं। यह बात सच नहीं है। कारण गुरुपद भी विशुद्ध वासनामय अधिकार पद है। जीवोद्धार और लोककल्याण की आकांक्षा यदि हृदय में न रहे तो कोई गुरुपद प्राप्त नहीं कर सकता। जिन आत्माओं का मलपाक अत्यन्त अधिक होने से परम वैराग्य उदय होता है, वे साक्षात् भगवदनुग्रह के कारण पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं। वे जगत् के अतीत होते हैं। आगम के मत से वे परमेश्वर की अधिकारावस्था और भोगावस्था को भेद कर सीधे लयावस्था प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में बिन्दु क्षोभ न रहने के कारण यह सृष्टि के अतीत की अवस्था है। द्वैत दृष्टि से विचार करने पर इनका जगद्व्यापार से सम्बन्ध नहीं रहता। वे मुक्त शिव हैं। मलहीन होने के कारण ये भी परमशिव की भाँति सर्वशक्तियुक्त और स्वतन्त्र हैं, यह सच है एवं यही स्वातन्त्र्य तब अनावृत्त है, यह भी सच है; तथापि ये वासनामुक्त होने के कारण जगत् के अधिकारादि से उपरत और स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। निर्मल पुरुष की शक्ति अर्थात् अव्यया स्वयंवेद्या संवित् सर्व वस्तु को यथावस्थित रूप में ग्रहण करते हैं। ये समर्थ होते

हैं, किन्तु सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व के होते हुए भी इनकी प्रवृत्ति नहीं होती। कारण नित्यमुक्त परमेश्वर ही विश्व कार्य के निर्वाहक हैं। ये रागद्वेष हीन हैं। अद्वैत दृष्टि से ये लोग एक ही परमेश्वर-रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए पृथक् रूप से इनके सम्बन्ध में कुछ कहने को नहीं है।

किन्तु जिनके हृदय में परमानन्द भोग की आकांक्षा प्रबल है, वे भगवदनुग्रह प्राप्त कर विद्यादेह में दिव्यभोग सम्भोग करते रहते हैं। सदाशिव-पद में भोग-सम्पत्ति घट जाती है और जो लोग परोपकार करने के लिए दृढ़ संकल्पी हैं, वे मलपाकवश भगवदनुग्रह प्राप्त करने पर एक ऐसी अवस्था-लाभ करते हैं, जिससे उनकी आकांक्षा पूर्ण हो सकती है। वे अधिकार-पद प्राप्त कर लेते हैं। इनमें से एकांश मन्त्रपद प्राप्त करते हैं। बाकी अंश जगत् के आदि गुरु पद प्राप्त करते हैं। इन आदि गुरुओं में सभी अर्थात् आठ लोग माया के ऊपर ईश्वरतत्त्व का आश्रय लेकर वर्तमान रहते हैं। यही आठों लोग अनन्त से शिखण्डी तक जगद्‌गुरु रूप में वर्णित होने योग्य हैं। इनके अमायिक विशुद्ध सत्त्वमय वैन्दव देह है, जिसे इन लोगों ने सृष्टि के प्रारम्भ में भगवदनुग्रह के समकाल में विन्दु क्षोभ से प्राप्त कर लिए हैं। वैन्दव देह के रहते हुए भी ये (अ-पर) शिव पदवाच्य और सर्वज्ञत्वादि सम्पन्न होते हैं। इनका मायिक देह नहीं होता। पहले ही ये योग-विज्ञानादि के द्वारा कर्मक्षय का सम्पादन करने के बाद, माया के बाहर विज्ञान कैवल्य अवस्था में, केवल मल-मात्र से युक्त होकर अवस्थान कर रहे थे।[१] उस समय भी मल-पाक की सम्यक् पूर्णता न होने के कारण ये भगवदनुग्रह प्राप्त नहीं कर पाते। यह विदेह कैवल्य की दशा है, जो माया और पुरुष के विवेकज्ञान से उद्‌भूत हैं। इस अवस्था में कर्म, पुर्यष्टक, स्थूलदेह—कुछ भी नहीं रहता, पर शुद्ध वासना रहती है—यह सत्य है। आणव मल रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में भगवदनुग्रह प्राप्त कर वे ज्योतिर्मय वैन्दह देव प्राप्त करते हैं एवं अपने अधिकारोचित पद पर स्थित होते हैं। यह पूर्णत्व की अवस्था न होने पर भी ऐश्वर्य की अवस्था तो है ही। ये भगवान् की पंचकृतकारिता प्राप्त करते हैं। ये परमेश्वर के प्रेय या निर्देशवर्ती होने पर भी एक हिसाब से जगत् के प्रभु हैं। मायिक-जगत् की सृष्टि, रक्षा आदि की जिम्मेदारी मूलतः इनके ऊपर है। अनुग्रह भी इन्हीं के अन्तर्गत है, इसीलिए ये गुरु-पदवाच्य हैं। इन लोगों में जो प्रधान हैं, उनके शरीर में प्रविष्ट होकर परमेश्वर कारुण्यवश अवच्छिन्न प्रमाता शिष्य का उद्धार करते हैं। गोकि यह गुरु-शक्ति क्रम आश्रय करके धीरे-धीरे अवतीर्ण होता है।

---

१. भगवान् वामाख्य क्रियाशक्ति के द्वारा अनादिमलयुक्त सभी पशुओं को निरुद्ध करते हैं और तादृश नियमित पशु को कर्म विपाकानुसार मायिक धारण करने के लिए भेजते हैं, किन्तु विज्ञान केवलीदिग को नहीं करते।

इन आठ लोगों की तरह और भी गुरु हैं, पर वे आदि गुरु नहीं हैं एवं माया के अतीत नहीं हैं। वे माया गर्भ के अधिकारी हैं। स्वाभाविक नियम से जितने जीवों की कलादि उपसंहत होते हैं और जो इसी निमित्त उस समय जड़ कैवल्य की न्याय अवस्था में माया के भीतर रहते हैं, उन्हें प्रलयकाल कहते हैं। उनके मल तो रहते ही हैं—कर्म भी रहते हैं। उनमें से जिनके मल परिपक्व होकर भगवदनुग्रह प्राप्ति होती है, वे सृष्टि के समय द्विविध देह प्राप्त कर जाग उठते हैं। अभुक्त कर्मों के कारण उन्हें आतिवाहिक मायिक देह धारण करना पड़ता है। यह देह कर्मानुसार विभिन्न स्तरों में कार्य कर सकता है, जबकि भगवदनुग्रह के फलस्वरूप विन्दु क्षोभवश वैन्दव देह की प्राप्ति साथ-साथ हो जाती है। ये दोनों देह परस्पर मिलकर रहते हैं। इनका कार्यक्षेत्र कायिक जगत् के भीतर ही कला तत्त्व से पृथिवी तत्त्व तक विभिन्न स्तरों में रहता है। वैन्दव देह प्राप्त होने के कारण ये भी गुरु-कार्य करते हैं। कहना न होगा कि एक हिसाब से आदि गुरुओं में इनकी भी गिनती होती है। कारण, मायोत्तीर्ण अनन्तादि से इन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता—साक्षात् परशिव से प्राप्त करते हैं अर्थात् परमेश्वर, अनन्तादि, विद्येश्वर या आदि गुरु वर्ग के अधिष्ठानों के द्वारा माया से कलादि तत्त्व, भुवन, पिण्ड और भाव की सृष्टि करके, सभी कलाओं के साथ पुद्गल या सभी जीवों को कर्मानुसार योजन करके, उन लोगों के मध्य से परिणत मल सभी अणुओं को, मायागर्भाधिकारी विद्येश्वर-पद पर साक्षात् अनुग्रह करते हैं।

ये हैं—

(क) मण्डलाधिपति — आठ (कला मस्तक में)।[१]

(ख) क्रोधेश आदि — आठ (प्रकृति तत्त्व में)।

(ग) वीरभद्र — एक (गुण के ऊपर और प्रधान के नीचे)।

(घ) शतरुद्र — एक सौ।

(ङ) श्रीकण्ठ (अष्टकपति)—एक (गुणतत्त्व में)

कुल ११८

ये मन्त्रेश्वर हैं, किन्तु ये सात करोड़ मन्त्र और ईश्वरतत्त्वस्थ आठ विद्येश्वर की अपेक्षा बाद में उत्पन्न एवं मायागर्भ के अधिकारी होने के कारण अधोभूत हैं। आचार्यादि के न्याय पशु के अनुग्रह के लिए ये मन्त्र के प्रयोजक होने के कारण मन्त्रेश्वर हैं। ये भी एक हिसाब से जगद्गुरु हैं, पर सभी मन्त्र अग्रज और निष्कल हैं और इन सभी मन्त्रेश्वर मन्त्र के प्रयोजक होने पर भी अवरज और स-कल हैं।

---

१. कला भुवन अर्थात् रागादि कलान्त अध्वा में ६४ महापुर हैं, नाम मण्डल, यथा भुवनेशाष्टक, वामदेवाष्टक, भवाष्टक, उद्भवाष्टक, एकपांगेक्षणाष्टक, ईशानाष्टक और अंगुष्ठमात्राष्टक (८ × ८ = ६४) सभी मण्डलेश्वर—भास्वर और सुकान्ति हैं।

इसीलिए इनकी शक्ति न्यूनतर है, और इनका अधिकार नीचे मायागर्भ में सीमित है।

विज्ञानाकल और प्रलयाकल जीव से सृष्टि के प्रारम्भ में, ये सभी गुरु और अधिकारी वर्ग भगवान् के साक्षात् (निरधिकरण) अनुग्रह के फलस्वरूप आविर्भूत होते हैं। स्थितिकाल में स-कलावस्था में जो जीव मलपाक के कारण भगवान् के अनुग्रहयोग्य होते हैं, वे सभी अनन्त आदि किसी-न-किसी देह में आविष्ट होकर भगवान् के द्वारा अनुगृहीत होते हैं। श्रीकण्ठादि असंख्य रुद्र इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के अधिपति पद पर स्थापित हुए हैं।

इन सभी रुद्रों से कई एक देवता अनुग्रह प्राप्त कर चुके हैं। इन देवताओं से कुछ मनुष्यों ने अनुग्रह प्राप्त किया है। ये सभी रुद्रादि अधिकारी—स-कलावस्था में, चार प्रकार के शक्तिपात के अनुसार अनुग्रह प्राप्त करते हैं। इनके मलपाक का उदय स्थितिकाल में ही होता है। इस अवस्था में जिन्हें मूलबीज प्राप्त हो गया है, उनकी क्रममुक्ति सम्भव है। स्थिति के अवसान के प्रलय से जो अनुगृहीत हैं, उनमें अधिकारी नहीं हैं। कारण, जिनका मलपाक पूर्ण होता है, वे सद्यः पर-मोक्ष प्राप्त करते हैं।

पहले जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझ में आ जायगा कि गुरु छः प्रकार के हैं। अनादिसिद्ध, पंचकृतकारी होने के कारण पंचमन्त्रतनु परमेश्वर ही सर्वानुग्राहक और स्वाभाविक स्वातन्त्र्यमय होने से नित्यसिद्ध अनौपाधिक गुरु हैं। अन्यान्य गुरु क्रमशः उनके ही नियोजक हैं। गुरु वर्गों के नाम यों हैं—

(क) परमशिव, (ख) पर-मन्त्रेश्वर और अपर मन्त्रेश्वर, (ग) रुद्र, (घ) देव, (ङ) मुनि और (च) मनुष्य। परम शिव नियोजक, मन्त्रेश्वर उसके नियोज्य हैं। इधर मन्त्रेश्वर जब नियोजक हैं, तब रुद्र नियोज्य हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध मनुष्य-गुरु तक समझना होगा। इतना होने पर भी मनुष्याचार्य ही श्रेष्ठ है। उसमें पूर्ववर्ती सभी का सान्निध्य है।

मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। कारण दूसरों में वेदान्त के ज्ञान के अभाव के कारण सिद्धान्त-श्रवण की योग्यता नहीं है। अन्यान्य वर्णों का मलपाक पूर्ण होने पर वे निरधिकरण दीक्षा के द्वारा पर-मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा विश्वामित्र की तरह विशिष्ट तपस्या के द्वारा वर्णनान्तर संक्रान्ति प्राप्त कर अधिकार प्राप्त करते हैं। कारण, अधिकारी गण लोकसंग्रह के लिए श्रुतिविहित वर्णाश्रम धर्म का लंघान नहीं करते। एक बात और, चारों वर्णों के साधक पूर्व जाति से उद्धृत होकर तत्तत् जातुचित आचार फलाधिसंधि वर्जन कर अनुष्ठान अवश्य करेंगे, तब फिर लोक सांकर्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अधिकार के बिना उदित हुए साधक आदि के लिए स्वाचारन्यूनता सर्वथा वर्जनीय है। अगर अधिकार उदय होने के पूर्व प्रारब्ध देह का त्याग हो जाता है तो साधकादि तीन जनों को क्रमशः शिवत्व मन्त्रेश्वर और रुद्रत्व प्राप्त होता है। साधक

तथा पुत्रकों को समपद की प्राप्ति नहीं होती। शिवपद में भी उन लोगों में भोगलयावस्थादि क्रमशः प्राप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ गण ही सामान्य-विशेष शास्त्रों में अधीती, समर्थ और समस्त सम्पत् सम्पन्न होने के कारण सर्व पदार्थ विनियोग के लिए परमेश्वर के अधिकरण रूप आचार्य हो सकते हैं।

साधक गण विनियोग सहित पति, पशु और पाश—इन तीनों वस्तुओं के ज्ञान द्वारा आचार्य का अधिकार प्राप्त करते हैं। आचार्यत्व बन्धन नहीं, यह अ-पर मोक्ष है। सर्वपाश का छेद न होने पर आचार्यत्व नहीं होता। आचार्य का केवल अधिकार-मल-मात्र बचा रहता है जो सर्वज्ञत्व का अविरोधी है। आचार्य का देह पशुदेह की तरह नहीं है। यह देह बिन्दु से उद्भूत होने के कारण बोधक है, पशुओं का देह माया से उत्पन्न होने के कारण मोहक होता है। आचार्य परमेश्वर के समान हैं। उन्हें परमेश्वर की बहिरंगा मूर्ति कहकर वर्णन किया जा सकता है। स्व-शक्ति ही परमेश्वर की अन्तरंगा मूर्ति है जिसे शाक्त देह कहा जाता है; किन्तु वैन्दव देह विशिष्ट आचार्य परमेश्वर का बाह्य देह है, इसमें अधिष्ठित होकर वे पशु के अनुग्रह-व्यापार का सम्पादन करते हैं अर्थात् परमेश्वर की अन्तरंगा मूर्ति के रहते हुए भी जगत् के स्थितिकाल में जीवानुग्रह के लिए उनके बहिरंगा वैन्दव मूर्ति का प्रयोजन है। यह मूर्ति कर्मरहित होने के कारण मायोत्तीर्ण विशुद्ध भोगी किसी जीव के साथ सम्बद्ध है। यही आचार्य है। अतएव परमेश्वर और आचार्य एक ही शरीर, एक ही शरीर का अवलम्बन करके एक ही व्यापार के व्यापारी हैं। इसीलिए दोनों में परस्पर साधर्म है। इसीलिए दोनों में अभेद व्यवहार होता है, जैसे 'गुरुरेव शिवः शिव एव गुरुः।' आचार्य या गुरु भी परमेश्वर के प्रेम हैं, पर पुदगल की तरह कष्टकर भोग-साधन कर्म में प्रेरित नहीं होते। आचार्य परमेश्वर के तीव्रतर शक्तिपातानुयिनी तुरीय दीक्षा के द्वारा अनुगृहीत और आत्मकल्प होते हैं। फलस्वरूप उसे वे स्वोचित शुद्ध भोग के अविरुद्ध परार्थ व्यापार-मात्र में प्रवर्तन करते हैं। आचार्य का यह प्रयोज्यत्व परम मुक्ति में बाधक नहीं है। अधिकार समाप्त होने पर देहपात के साथ-साथ पूर्णत्व प्राप्त होता है। इसीलिए आचार्यत्व अ-पर मोक्ष है।

साधक की दीक्षा के कारण सभी पाश छिन्न हो जाते जरूर हैं, किन्तु शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। उसके लिए कालान्तरभावी अभिषेक आवश्यक है। वही अ-पर निर्वाण है जो साधक के लिए साधनीय और परनिर्वाण का द्वार स्वरूप है। परमेश्वर की अर्चना आदि अविनाभूत शास्त्र चर्चा के द्वारा अभिषेक सम्पन्न होता है। इसे आरोग्य स्नान की तरह समझना चाहिए।

साधक-मात्र की निर्वाण-दीक्षा पहले ही हो जाती है। यही ज्ञान साधन साधकत्व का सम्पादक है। उसमें पशुत्व की निवृत्ति न होने के कारण शिवत्व की अभिव्यक्ति हो नहीं सकती। शिवत्व-सर्वज्ञत्वादि षाडगुण्य—सभी आधारों में

निखरता नहीं है। जहाँ कलादि छः अध्वाओं की शुद्धिपूर्वक पाशत्रय का छेद नहीं हुआ है, वहाँ शिवत्व की अभिव्यक्ति असम्भव है। कारण, पूर्ण ज्ञान की साधना ऐसे क्षेत्र में कैसे होगी? तृतीय या निर्वाण दीक्षा का प्रयोजक अधिक मलपाक निबन्धन तीव्र शक्तिपात है।

जिनके शक्तिपात मन्द हैं—कारण, अध्व-मल सामान्यत: पक्व—उनके भाग्य में निर्वाण दीक्षा नहीं होती, अतएव उनके लिए तुरीय दीक्षा और आचार्यत्व प्राप्त करना असम्भव है। ऐसे लोग पुत्रक-दीक्षा प्राप्त करते हैं। यही द्वितीय जन्म है, अर्थात् पूर्व जाति निवृत्ति पूर्वक वागीश्वरी के गर्भ में जन्म प्राप्त करना। इसका विशेष विवरण यहाँ देना अनावश्यक है। इस दीक्षा के कारण भक्त्यादि सद्वृत्तियाँ जन्म लेती हैं, जो लोग इस दीक्षा को लेते हैं, उन्हें 'पुत्रक' कहा जाता है। यही द्वितीय दीक्षा है।

इससे भी निम्न स्तर की जो दीक्षा है, उसमें अधिकार विचार नहीं है, काल या आश्रम का विचार नहीं है। कोई भी आत्मा उसे प्राप्त कर सकती है। इसे समयी दीक्षा कहा जाता है, पर बहु जन्मार्जित पुण्य बल न रहने पर यह भी नहीं होता। इसके लिए अनिर्वचनीय भाग्योदय चाहिए। यह अनादि मल का किंचित् पाक होने पर मन्दतर शक्तिपात के अनुसरण करने से सम्पन्न होता है। यह शिष्य के मस्तक पर शिव हस्तार्पण का रूप है। यह जिसे प्राप्त होता है, उसे 'समयी' कहा जाता है। इस दीक्षा के फलस्वरूप भगवान् के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और प्राक्तन सभी कर्मों का परिपाक द्रुतगति से होता है। यह दीक्षा पाने पर गुरु-सेवा और साधारण देवादि की अर्चना का अधिकार उत्पन्न होता है।

यहाँ जिन बातों की चर्चा की, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य योनि में आचार्य-पद प्राप्त करना कितना कठिन कार्य है। पुत्रक दीक्षा में वागीश्वरी-गर्भ-सम्भूत जो देह-लाभ होता है, उसके बाद भी देह है—वह है वैन्दव-देह। यही आचार्य देह है। निर्वाण-भूमि बिना भेद किये वैन्दव-देह प्राप्त नहीं होता। वैन्दव-देह की निवृत्ति होती है अधिकारादि सम्पत्ति के साथ-साथ। तब बिन्दु क्षोभ नहीं रहता—शुद्ध अध्वा भी अतिक्रान्त हो जाता है। उस समय शिवत्व की प्राप्ति होती है—इस अवस्था में शाक्तदेह प्राप्त होता है। यही है निराकार अवस्था। शक्ति चिद्‌रूपा, शिव भी चिदरूप—दोनों ही अभिन्न हैं। यही है—परामुक्ति की अवस्था। इस अवस्था में प्रेयत्व नहीं रहता, इसीलिए यह स्वतंत्र है।

इस अवस्था में परमेश्वर के साथ प्रभेद होता है या नाममात्र किंचित् भेद रहता है, वह प्रस्थान भेद से पृथक् भाव से आलोच्य है। यहाँ उसकी चर्चा करना अप्रासंगिक है।

●

शक्तिपात-रहस्य

श्री भगवान्‌रूपी श्रीगुरु की शक्तिपात या कृपा के बारे में कुछ चर्चा करना आवश्यक है।

आत्मा की स्वरूपावस्थान अथवा मोक्षप्राप्ति ही मानव-जीवन का प्रकृत उद्देश्य है। धारणाशक्ति के अभाव में साधारण लोग इसे स्वीकार न करें, पर इसकी सत्यता के बारे में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है। यथासमय सभी को यह बात हृदयंगम हो जाती है। जब तक मनुष्य अपने स्वरूप में स्थितिलाभ नहीं करेगा, कम से कम स्थितिलाभ के सत्यमार्ग में पदार्पण नहीं करेगा, तब तक उसको अपने शुभाशुभ कर्मों के अधीन रहते हुए सुख-दुःखरूपी फल-भोग के लिए अनुरूप विविध भोगस्थानों में निरन्तर भोगायतन देह धारण करना पड़ेगा। फलतः बाध्य होकर उसे जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर आवर्त्तन करना पड़ेगा। इसी का नाम संसार है। स्वरूप में स्थितिलाभ न करने तक इससे मुक्तिलाभ की कोई आशा नहीं है।

तो क्या स्वरूपस्थिति का कोई उपाय नहीं है? है, अवश्य है तथा जीव उसे प्राप्त कर सकता है। जब जीव उसे प्राप्त कर लेता है, तब उस उपाय के तारतम्य के अनुसार शीघ्र या विलम्ब से, क्रम अलम्बनपूर्वक अथवा अक्रम से, वह संसार से मुक्त होकर अपने पूर्णस्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। आत्मा का यह पूर्णस्वरूप भगवत्तत्त्व अथवा ब्रह्मभाव है, समझना चाहिए।

तांत्रिक आचार्यों की परिभाषा में इस उपाय का नाम शक्तिपात है। इसका नामान्तर कृपा या भगवदनुग्रह है। इसके बिना केवल पौरुष प्रयत्न से भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः भगवन्मुखी वृत्ति के मूल में सर्वत्र भगवत्कृपा को स्वीकार करना पड़ता है। कारण, उनकी कृपा बिना उनकी ओर चित्त की गति नहीं हो सकती।

शक्तिपात अथवा कृपा के बारे में शास्त्रों में अनेक स्थानों पर अनेक ढंग से आलोचनाएँ हुई हैं। खृष्टीय, नोष्टिक (Nostic) आदि विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में इस विषय का अनेक विवरण देखने में आया है। वर्तमान लेख में हम केवल तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से इस बारे में कुछ कहना चाहते हैं।

शक्तिपात अथवा कृपा कब और क्यों होती है, इसका उत्तर विभिन्न दृष्टि से विभिन्न प्रकार से दिया जाता है।

किसी-किसी के मत से ज्ञान का उदय होने पर शक्तिपात होता है। अज्ञान से संसार का उद्भव होता है और ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान की निवृत्ति होकर शक्तिपात होता है। ज्ञानाग्नि सभी प्रकार के कर्मों को भस्म करके शक्तिपात की भूमि तैयार करता है। इनका कहना है कि कर्मफल का भोग क्रम से हो अथवा अक्रम से हो, उसके द्वारा कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। भोग क्रमशः होता है इसे स्वीकार करने पर कर्मान्तर प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। अतएव निरन्तर नूतन कर्म होने के कारण किसी भी समय सभी कर्मों का क्षय नहीं हो सकता एवं क्रमफल भोग को क्रमिक न मानकर युगपत् मानने पर भी इस सन्देह की निवृत्ति नहीं होती। क्रमशः फल देना कर्म स्वभाव है। एक ही समय में सभी कर्मों का फल भोग होता है। इसे स्वीकार कर लेने पर कर्म का स्वभाव नष्ट हो जाता है, किन्तु स्वभाव का नाश कभी सम्भव नहीं होता। इसलिए किसी भी प्रकार से हो, भोग द्वारा कर्मक्षय होना संगत नहीं है। इसीलिए ज्ञानवादी आचार्यों के मत से ज्ञान को ही कर्म के क्षय का कारण मानकर उसके साथ शक्तिपात का कार्य-कारण-सम्बन्ध मान लिया गया है।

किन्तु इस ज्ञान का आविर्भाव किस प्रकार से होता है, उसका ठीक-ठीक सन्धान नहीं मिलता। यदि कर्म को ज्ञान का कारण मान लिया जाय तो ज्ञान को कर्म का फल स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में ज्ञान और कर्मफल समानार्थक हो जाते हैं एवं ज्ञानी को कर्मफलभोगी मानना पड़ेगा। अतएव ज्ञानोदय से शक्तिपात स्वीकार करने पर प्रकारान्तर से भोगों में शक्तिपात मानना आवश्यक है। इससे अतिप्रसंग दोष आता है। कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान कर्म का फल होने पर भी ईश्वरेच्छा से उसमें कुछ विशिष्टता है। स्वर्गादिरूप कर्मफल कर्मान्तर को दग्ध नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं कर्मफलात्मक होने पर भी कर्मान्तर को दग्ध करता है। यही ज्ञान की विशेषता है। इस मत से ज्ञानोदय में अन्योन्याश्रय अर्थात् ज्ञानोदय से ईश्वरेच्छा के निमित्तता का अनुमान एवं ईश्वरेच्छा अनुमान से ज्ञानोदय—इस प्रकार अन्योन्याश्रय तथा व्यर्थता का दोष आता है एवं ईश्वर से रागादि प्राप्ति का प्रसंग आता है। इसलिए यह मत स्वीकार नहीं है।

किसी-किसी आचार्य का ऐसा मत है कि शक्तिपात का वास्तविक कारण ज्ञान नहीं, किन्तु कर्म साम्य है। दो समान बलशाली कर्मों के परस्पर प्रतिबन्ध के कारण कर्म का साम्य होता है, इसी साम्य से शक्तिपात होता है। क्रमिक भोग के प्रभाव से अनेक कर्म क्षीण हो जाने पर किसी अनिश्चित समय में अगर परिपक्व और समान बलविशिष्ट विरुद्ध कर्मफल के विषय में रुद्ध हो जाय अर्थात् अपने-अपने फल प्रदान न करे या नियत भोग विधान न करे एवं उसके पीछे के सभी

कर्म अपरिपक्व रहने के कारण भोगान्मुख हो तो इस प्रकार विरुद्ध कर्मों का साम्यभाव हो जाता है।

इस मत के विरोध में कहना है कि यदि कर्म को क्रमिक माना जाय तो उसके फलदान को भी क्रमिक मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में किसी भी दो कर्मों में परस्पर विरोध किस प्रकार सम्भव है? एक कर्म के स्वरूप में दूसरे कर्म की स्थिति हो ही नहीं सकती। इसलिए किसी प्रकार के विरुद्ध कर्मों का एकसाथ रहना सम्भव नहीं है। इस आलोचना से यह समझ में आता है कि कर्म सर्वदा क्रम के अधीन हैं। दो कर्मों का परस्पर विरोध कहने का तात्पर्य यह है कि वे दोनों एक-दूसरे के फल को रोकते हैं, जिसकी वजह से किसी भी क्षण इनकी युगपत् प्रकृति का उदय नहीं होता। एक बात और है। विरोध स्वीकार करने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि उस वक्त एक द्वितीय अविरुद्ध कर्म भोगात्मक फल देता रहता है। यदि उस अवस्था में किसी भी अविरुद्ध कर्म की प्रवृत्ति स्वीकार न की जाय तो उसी क्षण देहपात हो जाना चाहिए, कारण भोगायतन-देह एक क्षण भी भोग के बिना रह नहीं सकती। यदि यह कहा जाय कि जाति और आयु इन दो फल देनेवाला कर्म प्रतिबद्ध नहीं होता, केवल भोगप्रद कर्म ही प्रतिबद्ध होता है, तो प्रश्न उठता है कि यदि जाति और आयुप्रद कर्म रहने के बावजूद शक्तिपात हो सकता है, तब भोगप्रद कर्म के रहते शक्तिपात नहीं हो सकता, आखिर इसका कारण क्या है?

द्वैतवादी तांत्रिक आचार्यों का मत है कि ज्ञान या कर्मसाम्य शक्तिपात के कारण नहीं है—शक्तिपात का प्रकृत कारण मलपाक है। इनका कहना है—

परस्परविरोधेन निवारितविपाकयोः।
कर्मणोः सन्निपातेन शैवी शक्तिः पतत्यसौ॥[1]

दो विरुद्ध कर्मों में दोनों ही धर्मात्मक हो सकते हैं जैसे एक स्वर्गप्रापक और दूसरा ब्रह्मलोकप्रापक कर्म, दोनों ही अधर्मात्मक हो सकते हैं, जैसे एक अवीचि नरकप्रापक और दूसरा रौरव नरकप्रापक कर्म; अथवा एक कर्म धर्मरूप एवं दूसरा अधर्म रूप हो सकता है, जैसे अश्वमेध और ब्रह्महत्या। इस प्रकार दो विरुद्ध कर्मों का सन्निपात होने पर भी शिवत्वदायिनी अनुग्रह शक्ति की पात आत्मा में नहीं होती। मलपाक न होने पर शक्तिपात नहीं हो सकता। मतंगागम में लिखा है—मलपाक की अविनाभूत दीक्षा कर्मक्षय द्वारा मोक्ष प्राप्ति का हेतु बनती है। किरणागम में लिखा है—मलपाक से अनुग्रहशक्ति का पात होता है।

---

१. जिन कर्मों का फलदान परस्पर विरोध के कारण रुद्ध है, उनका सन्निपात होने पर शैवीशक्तिपात होता है।

अनेकभविकं कर्म दग्धबीजमिवाग्निभिः।
भविष्यदीप संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः॥[1]

शक्तिपात होने के साथ-साथ मल का आवरण हट जाता है तथा नित्यसत्य विशुद्ध सर्वज्ञत्वादिमय[2] स्वरूप में प्रकाशित होता है, अर्थात् शान्त और निर्मल आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। एक ही परमेश्वर जीव का बन्धन भी करते हैं और मोक्ष भी। जैसे एक ही सूर्य अपने सान्निध्य से द्रवीभूत होने योग्य मोम को द्रवीभूत करते एवं शुष्क होने योग्य मिट्टी को शुष्क करते हैं, उसी प्रकार एक ही परमेश्वर मोक्षाधिकारी पक्कमल जीवों के लिए मोक्षदान की व्यवस्था करते हैं, बन्धन योग्य अपक्कमल जीवों के मलपाक के लिए उसके बन्धन की व्यवस्था करते हैं। मलपाक के कारण उपकार तथा अपकार रूप कर्म साम्यवृद्धि होती है—तभी मोक्ष होता है। सभी प्रकार के कर्मों का साम्य होने पर विज्ञान कैवल्य-मात्र सिद्ध होता है, मोक्ष नहीं। यथार्थ कर्मसाम्य का कारण मलपाक है। इसीलिए मलपाक से दीक्षा के प्रभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है। परमेश्वर नित्य, निर्मल, सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं, किन्तु पशु आत्मा, मल, माया और कर्मरूप पाश में बँधा है। परमेश्वर कृपा करके उनके यह सब पाश या बन्धन छिन्न करके, उसे अपनी तरह बना लेते हैं। इसी का नाम है शिवसाधर्म्य की अभिव्यक्ति। यही मोक्ष है, किन्तु जब तक पशु के चैतन्य का उपरोध करनेवाले अनादिमल का अधिकार निवृत्त नहीं होता, तब तक इस अनुग्रह की प्रवृत्ति नहीं होती।

मृगेन्द्र आगम में लिखा है—

तमःशक्त्यधिकारस्य निवृत्तस्तत्परिच्युतौ।
व्यनक्ति दृक्क्रियानन्त्यं जगद्बन्धुरणोः शिवः॥[3]

तमःशक्ति रोधशक्ति या तिरोधान का नामान्तर है। जब तक इस शक्ति का आधार रहेगा तब तक उद्धार का कोई उपाय नहीं है। अनादिमल क्रमशः धीरे-धीरे पक्क हो रहा है, परिणाम को प्राप्त हो रहा है। परिपक्कता पूर्ण होने पर उसकी

---

१. अनेक जन्मों का संचित कर्म अग्नि में भुने बीज की तरह दग्ध हो जाता है। भावी कर्म की फलोत्पादिका शक्ति रुक जाती है तथा जिस कर्म से इसका जन्म हुआ है, उस कर्म अर्थात् प्रारब्ध कर्म का भोग द्वारा क्षय हो जाता है।

२. सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि धर्म शुद्ध और अशुद्ध भेद दो प्रकार के हैं। अपरामुक्ति में, अर्थात् आधिकारिक शिवावस्था में ये सब धर्म स्वरूप से अभिन्न होने पर भी किंचित् भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु परामुक्ति अथवा परम शिवावस्था में शिव और शक्ति में पूर्ण सामरस्य हो जाने के कारण यह सब धर्म स्वरूप से सर्वथा अभिन्न रूप में प्रकाशित होते हैं।

३. आवरण-शक्ति के अधिकार निवृत्त होने पर उस शक्ति की क्षय होती है। तब जगद्बन्धु परमेश्वर पशु या बद्ध जीव के प्रति उसकी अनन्त ज्ञान क्रिया अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् मुक्त कर देते हैं।

निवृत्ति का समय उपस्थित होता है। आँखों में जाली पड़ जाने पर अस्त्रक्रिया के द्वारा उसे दूर किया जाता है, किन्तु जब तक वह (मोतियाबिन्द) ठीक से पकता नहीं तब तक अस्त्रोपचार नहीं किया जाता। अपक्व मल को खींचकर हटाने की कोशिश करने पर जीव का सर्वनाश हो जायगा। इसलिए मंगलमय भगवान् इस प्रकार का बलप्रयोग नहीं करते। वे मलपाक के लिए अवसर की प्रतीक्षा करते हैं तथा मल परिपक्व होने पर दीक्षा द्वारा उसे अपसारण करते हैं। उनके जीवोद्धार का यही क्रम है।

इस मत में मल द्रव्यात्मक होने के कारण क्रिया के द्वारा उसकी निवृत्ति स्वीकार की जाती है। गोकि यह क्रिया जीवों का व्यापार नहीं है, ईश्वर का है। यही है दीक्षा, किन्तु मलपाक न होने तक इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। मलपाक के लिए भगवान् जीव को अलक्षित रूप में अनादि कर्मभोगात्मक संसार में भेज देते हैं। भगवान् के इस कृत्य का नाम तिरोधान या रोध है। वस्तुतः सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों व्यापार के तिरोधान के प्रकारभेद हैं, तीनों में तिरोधान अनुस्यूत है। मल की तरह माया और कर्मपाक भी आवश्यक है। मायापाक का उद्देश्य है माया की सभी शक्तियों को अभिव्यक्ति के योग्य बनाना। इस प्रकार कर्म भी पक्व होने पर अपना-अपना फल देने लगते हैं। अपक्व कर्म फलदान नहीं कर सकते। सभी पाशों का पाक या परिणाम परमेश्वर के सामर्थ्य या स्वातंत्र्य से होता है। अनेक जन्मों की वासना और पुण्य के प्रभाव से किसी भी समय या किसी भी आश्रम में स्थित रहने के समय अचिन्त्य भाग्योदय किसी-किसी आत्मा की चैतन्य-शक्ति के अनादि आवरणभूत मल का किंचित् पाक होने पर तदनुरूप शक्तिपात होता है। इसे प्रचलित भाषा में भगवत् कृपा कहा जाता है। इसकी मात्रा के अनुसार भगवान् के प्रति भक्ति-श्रद्धादि का उदय होता है। उस समय उस शक्तिपात के अनुरूप दीक्षा का अवसर आता है। शक्तिपात के तारतम्य से दीक्षा का भेद होता है। इस मत से शक्तिपात के तारतम्य का मूल मलपाक की विभिन्नता है।

यह कहना व्यर्थ होगा कि इस मलपाक के सिद्धान्त से भी अनुग्रह तत्त्व का चरम-रहस्य नहीं खुलता। भेदवादी आचार्य मल के विनाश को स्वीकार नहीं करते, कारण मल एक होने के कारण उसका नाश स्वीकार कर लेने पर एक आत्मा मलहीन होने के साथ-साथ सभी आत्माओं के मलहीन होने का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। तब तो एक की मुक्ति के साथ-साथ सभी की मुक्ति हो जायगी। इसीलिए ये लोग कहते हैं कि मल का पाक होता है, नाश नहीं होता। पाक का माने है अपनी शक्ति का प्रतिबद्ध। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के विचार से पूर्वोक्त दोष दूर नहीं होता। अग्नि की अपनी शक्ति स्तंभित होने पर जैसे वह सभी के लिए समान होता है, उसी तरह मल के पाक को मान लेने पर

भी मल अभिन्न होने के कारण वह पाक भी सभी के लिए समान ही मानना पड़ेगा। एक बात और है, पाक का हेतु क्या है? कर्म या ईश्वरेच्छा हो नहीं सकता। कारण कर्म केवल भोग का कारण है, अन्य किसी कार्य के कारण नहीं होता। यदि ईश्वरेच्छा से होता है तो प्रश्न यह उठता है कि वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र? परतन्त्र होने पर कर्मादि अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा है। तब तो पूर्वोक्त दोष यह रह जाता है। दूसरी ओर यदि ईश्वरेच्छा स्वतन्त्र हो तो इस स्वतन्त्रेच्छा के फलस्वरूप मलपाक सबके लिए समान होना चाहिए। ईश्वर में रागद्वेष नहीं है। सुतरां उनकी इच्छा से किसी का मल पक्क होता है और किसी का नहीं होता अथवा किसी का शीघ्र होता है और किसी का विलम्ब से होता है, इस वैषम्य का क्या कारण है? वैषम्य या पक्षपात दोष ईश्वर में नहीं हो सकता। गोकि यह आलोचना द्वैत दृष्टि से की जा रही है अतएव समझ में आता है कि मलपाक का कोई हेतु नहीं है, जबकि उसे अहेतुक भी नहीं कहा जा सकता। बिना कारण कार्य सिद्ध मान लेने पर संशय रह जाता है—इतने दिनों तक मलपाक क्यों नहीं हुआ? वस्तुतः अहेतु के लिए मल की स्थिति हो नहीं सकती। अतएव शक्तिपात के बारे में मलपाक को भी चरम सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

पूर्वोक्त कारणों से कर्मसाम्यादि कोई भी मत समीचीन नहीं लगता। अद्वय दृष्टि ही चरम दृष्टि है। तदनुसार परमेश्वर अद्वय और स्वातंत्र्यमय है। इस मत के अनुसार जो शक्तिपात का विवरण है वही इस विषय का चरम सिद्धान्त है। परमेश्वर स्वभावतः नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों का ही स्पर्श करते हुए प्रकाशमान होते हैं। इसीलिए शास्त्र में उन्हें स्वच्छन्द कहा गया है। उनका अपना भाव या इच्छा ही स्वभावपदवाच्य है। जब वे कर्म और फल के परस्पर सम्बन्ध आश्रय करके अवान्तर स्थिति काल में सृष्टि, संरक्षण और संहार का व्यापार करते हैं तब उन्हें नियतक्रम कहा जाता है अर्थात् ये नियम या कार्यकारण भाव आश्रय करके कार्य करते हैं ऐसा कहा गया है, अर्थात् ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्ड की सृष्टि में वे कर्म और फल के नियमों का अवलम्बन करते हैं, किन्तु शाक्त महासर्ग में अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में वे सर्वथा निरपेक्ष और पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहते हैं। वहाँ पर कर्मफलादि किसी नियम के अधीन होकर वे अपने को प्रकाशित नहीं करते। यही परमेश्वर का अनियतिक्रम प्रकाश है। महासर्ग में सृष्टि और संहार अनन्त हैं। शक्तिपर्यन्त अध्वा की, अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में जगत् का असंख्य सृष्टि-समूह अन्तर्भुक्त रहता है। यही शाक्त महासृष्टि है। यही प्राक्तन कर्मों के फलरूप में प्रादुर्भूत नहीं होती। इसी से इसमें कर्म की अपेक्षा नियति का परिग्रह नहीं होता। माया के ऊर्ध्व में कर्म रह नहीं सकता, यह कहना व्यर्थ है अर्थात् अवान्तर सृष्टि में भी या ब्रह्माण्डादि में भी परमेश्वर नियति के

अधीन नहीं हैं। वे स्वतन्त्र हैं। उनका नियतित्याग और नियतिग्रहण इस प्रकार होता है—जब वे नियति के द्वारा अर्थात् अपने स्वरूप का आच्छादन करते हुए भोक्ता के रूप में दु:ख-मोहादि भोग करते हैं तब कर्मफल क्रम अर्थात् नियति को ग्रहण करते हैं और जब वे अनपेक्षा समझकर कर्म के नियन्त्रण को त्यागकर तिरोधान में दु:ख-मोहादि के बारे में अवभासन करने की इच्छा करते हैं तब स्वतन्त्र और नियमत्यागी हैं। अभी जो तिरोधान के बारे में कहा गया, यह एक प्रकार से उनका स्वेच्छाकृत आत्मगोपन है। रंगमंच पर अभिनय के समय कुशल नट जैसा करते हैं, उसी प्रकार। तिरोधान का कारण प्राक्तन कर्मादि नहीं हो सकता। कर्म से जाति, आयु और भोगरूप फल उत्पन्न होते हैं, तिरोधान नहीं होता। परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही इसका एकमात्र कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि हम यह आलोचना अद्वैत दृष्टि से कर रहे हैं। द्वैतसम्मत स्वतन्त्र ईश्वर इच्छा से जो दोष होता है, इसमें उसका प्रसंग नहीं होता, कारण इस मत में मूलतत्त्व अद्वैत होने के कारण राग-द्वेषादि का प्रसंग नहीं उठता अर्थात् कर्मादि-निरपेक्षभाव में केवल भगवत्-इच्छा से ही अनुग्रह होता है, यही वास्तविक सिद्धान्त है अर्थात् शक्तिपात कर्मसाम्य, मलपाक आदि के अधीन नहीं, किन्तु निरपेक्ष और स्वतन्त्र है। पुराण आदि में भी इस प्रकार मत मिलते हैं—
'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।'

महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेव ने भगवान् की स्तुति के प्रसंग में कहा है—

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य माँ प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥[1]

अर्थात् हे भगवान्, तुम शक्तिपात के समय अर्थात् जीव के ऊपर कृपा करने के समय न्यायतः प्राप्त होने पर भी, कभी प्राप्त होने पर भी, कभी पात्र-अपात्र का विचार नहीं करते। तब आज मुझमें ऐसी कौन-सी नयी बात आ गयी, जिसके कारण मेरे प्रति आत्मप्रकाशन में विलम्ब कर रहे हो?

शक्तिपात में मायाण्डगत कर्मादि का व्यापार नहीं रहता, यह सत्य है, क्योंकि कर्मादि जीव को माया में आबद्ध रखते हैं। इसीलिए माया से अव्याहति नहीं होती। शक्तिपात सर्वथा माया निरपेक्ष है, जितने देवता माया के भीतर या

---

१. इस श्लोक में 'प्राप्तम' और 'कर्हिचित्' इन दोनों शब्दों के प्रयोग से ऐसा लगता है कि शक्तिपात अनपेक्ष सुलभ और रागादि प्रसंग से लेशहीन है। मतंगागम के टीकाकार अनिरुद्ध ने भी शक्तिपात के विषय में निरपेक्षता सिद्धान्त को ग्रहण किया है। यथा—

स्थावरान्तमपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका।
शक्ति पतति सापेक्षा न क्वापि.......................॥

यहाँ 'स्थावरान्त' शब्द से लगता है कि अत्यन्त अयोग्य में भी शक्तिपात हो सकता है।

ऊर्ध्व में रहते हैं, वे अपने-अपने अधिकार की समाप्ति होने पर अकस्मात् कर्मादि निरपेक्ष भगवद् अनुग्रह से भगवद्भाव प्राप्त करते हैं। जो लोग मायाक्रान्त नहीं हैं, वे कर्मादि के अधीन नहीं हैं, केवल शक्तिपात के प्रभाव से उन्हें भोग अथवा मोक्षरूपा सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ किसी-किसी के मन में शंका उत्पन्न हो सकती है कि ये सब शुद्ध आत्माएँ जब पूजा, ध्यान, देवाराध्य आदि के प्रभाव से मायातीत शुद्ध अवस्था—मन्त्रत्व, मन्त्रेश्वर इत्यादि—प्राप्त करते हैं, तब तो यह कहना पड़ेगा कि यह भी एक प्रकार से कर्मफल है, किन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है, क्योंकि कर्मादि सभी उपाय माया के अन्तर्गत हैं।

ईश्वरभाव मगर माया के अतीत है। इसीलिए मायातीत वस्तु के ध्यानरूपादि विषयों में सर्वप्रथम प्रवृत्त होना मायामग्न आत्मा के लिए किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कर्म कर्मसाम्य, वैराग्य, मलपाक प्रभृति कोई भी मायिक व्यापार इसका कारण नहीं हो सकता। इसलिए स्वतन्त्र ईश्वर की इच्छा को ही कारण कहना पड़ता है। निरपेक्ष शक्तिपातवादियों का यही सिद्धान्त है। जप, ध्यान आदि कर्म नहीं, क्रिया हैं। कर्म शब्द के द्वारा ऐसे पदार्थ का बोध होता है जो परिमित भोग उत्पादन करके भोक्ता के पूर्णरूप अर्थात् अपरिच्छन्न चित्स्वरूप को तिरोहित करता है अर्थात् उसे चित्तरूप में संकुचित करके अनाच्छादित करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से जप, ध्यानादि परमेश्वर की स्वरूप विकाशिका क्रियाशक्ति है, स्वरूप के आवरण कारक कर्म नहीं हैं।[१]

एक ही चिद्रूप परमेश्वर के अपने स्वातन्त्र्य बल से तत्तत् प्रमाता, प्रमेय आदि विभिन्न रूपों और नाना आकारों में प्रकाशमान होते हैं। इसलिए एकत्व रहते हुए भी ऐक्य का अवभास न रहने के कारण उनके स्वातन्त्र्य प्रभाव से स्वरूप गुप्त हो जाता है। इसी का नाम है तिरोभाव या बन्धन। वस्तुतः परमेश्वर का स्वरूप भी परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इस प्रकार बन्ध और भोग द्वारा भोक्तृत्व को पुष्ट करते हुए संकोच के अवसानकारक जाति, आयु और भोगप्रद रूप में विकल्पित स्वयंकल्पित कर्मों के द्वारा आत्मा को बद्ध करते हैं। इसके बाद वह बन्धन-मोचन के क्रम से अपने आगन्तुक मलकर्मादि को दूर करते हुए अपने विशुद्ध रूप में

---

१. परमेश्वर की क्रियाशक्ति जब भेदज्ञानशाली पशु में प्रकट होती है एवं त्याग, ग्रहण आदि के रूप में क्षोभमय होकर बन्धन का कारण बनती है तब उसे स्वरूपाच्छादक सुखदुःखादि का जनक 'कर्म' के नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु जिस समय वही क्रियाशक्ति अपने शिवशक्त्यात्मक मार्ग में अधिष्ठित होकर ज्ञान का विषय होती है तब वह विभिन्न सिद्धि का कारण होती है एवं उसे 'क्रिया' कहा जाता है। इसलिए जपादि क्रिया, कर्म नहीं है। अविच्छिन्न स्फूर्ति ही तन्त्रशास्त्र में सिद्धि पद का वाच्य है। यह अक्षय भोग या मोक्ष का स्वातन्त्र्य है।

प्रकाशित होते हैं। उस समय पूर्णज्ञान कियाशक्तिसम्पन्न केवल स्वतन्त्र परमेश्वर ही अवशिष्ट रहते हैं।

पर और अपरभेद से शक्तिपात मुख्यत: दो प्रकार के हैं। परशक्तिपात होने परे परिच्छिन्न आत्मा पूर्ण चिदात्मा रूप में प्रकाशित होता है। यही उसका परम प्रकाश है। उपाधिहीन—अनवच्छिन्न चैतन्य—उसका स्वरूप है, किन्तु अपर शक्तिपात में पूर्ण चिदात्मा का प्रकाश पूर्ववत् रहने पर भी अवच्छेद सम्यक् प्रकार से अपगत नहीं होता, क्योंकि इस प्रकाश में भोगांश और अधिकारांश के कारण किंचित् अवच्छेद रहता है, किन्तु चरम अवस्था वह नहीं रहता। प्रचलित भाषा में पर और अपर शक्तिपात को पूर्ण और अपूर्ण कहा जा सकता है।

पूर्णकृपा परमेश्वर के अलावा और कोई नहीं कर सकता। अपूर्णकृपा ब्रह्मादि देवगण भी कर सकते हैं और करते भी हैं, जिसके प्रभाव से कृपापात्र जीव ब्रह्मादि के अधिकारान्तर्गत नाना प्रकार के भोग और अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु पूर्णत्व अथवा परमेश्वरत्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्मादि परमेश्वर के ही रूप हैं, तथापि स्वयं उन्नमित भेद-सम्बन्ध के कारण वह पद मायापद के अन्तर्गत हैं, इसलिए साक्षात् परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मादि देवों की कृपा से निकृष्ट समझना चाहिए, लेकिन यह बात सत्य है कि मायान्तर्गत होने पर भी ब्रह्मादि देवता भोगादिमय निकृष्ट अनुग्रह करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार स्वातन्त्र्य से, अर्थात् जैसे शक्ति के समावेश से राजागण किसी-किसी के प्रति अनुग्रह किया करते हैं, उसी प्रकार स्वातन्त्र्य के प्रभाव से ब्रह्मादि देवता करते हैं। मायागर्भ में जितने अधिकारी पुरुष हैं, उनका अनुग्रह मन्द तथा तीव्र भेद से दो प्रकार हैं। मन्द अनुग्रह के फल से प्रकृतिपुरुष में विवेकज्ञान का उदय होता है। इसके प्रभाव से जीव प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होता है, किन्तु प्रकृति के ऊर्ध्वस्तर के कर्म, जो कालादि का आश्रय करके रहते हैं, तब भी क्षीण नहीं होते। प्रकृति के नीचे की भूमि के सभी कर्मक्षय अवश्य होते हैं। इस प्रकार विवेकज्ञानी में मल विद्यमान रहते हैं, किन्तु यह सत्य है कि ये साधक पुन: प्रकृति के गर्भ में जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। अनन्तेश नामक ईश्वर की प्रेरणा से अप्राकृतिक मायिक जगत् में कदाचित् इनका जन्म भी हो सकता है। यदि उक्त अनुग्रह तीव्र मात्रा में हो तो उसके साथ-साथ उस साधक में कला-पुरुष-विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। इसके किंचित्काल बाद पुरुष माया से अपना भेदज्ञान प्राप्त करता है और माया राज्य का अतिक्रम करता है।

कला-लंघन के साथ-साथ सभी कर्म क्षय हो जाने के कारण पुरुष के लिए माया से उत्तीर्ण हो जाना सहज हो जाता है। साधन-राज्य में यहाँ तक अग्रसर होने पर पुन: मायागर्भ में जाना नहीं पड़ता। यही है विज्ञानाकल अवस्था।

इसे एक प्रकार से कैवल्य अवस्था कहा जा सकता है। इस समय आणवमल अवशिष्ट रहने के कारण अधिकार की निवृत्ति नहीं होती। यह सब पुरुष के ऊपर माया के अधिष्ठाता ईश्वर का कोई अधिकार नहीं है। ये विज्ञानाकल पुरुष परमेश्वर की इच्छा से परमेश्वर के साथ अधिकाधिक तादात्म्य अनुभव करते हुए क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर पद प्राप्त करके अन्त में साक्षात् परमेश्वरभाव प्राप्त करता है। परमेश्वर या पूर्ण ब्रह्म की कृपा से मूल अज्ञान रूप आणवमल निवृत्त होता है और पूर्णत्व की अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्म बिना मायान्तर्गत अधिकारी पुरुष की कृपा से पूर्णत्व लाभ हो नहीं सकता, केवल उत्कृष्ट भोगादि प्राप्त हो सकता है। इसीलिए मुमुक्षु-मण्डल में साक्षात् भगवान् की कृपा को ही कृपा नाम से वर्णन किया गया है, निम्न अधिकारियों की कृपा को कृपा के रूप में माना नहीं जाता।

शक्तिपात विचित्र होने के कारण तन्मूलक अधिकार भी विचित्र है। समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य या गुरु यह सब अधिकार भेद विभिन्न प्रकार के शक्तिपात से उद्भूत होता है। ये सभी अधिकार समष्टि रूप में भी हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् रूप में भी हो सकते हैं। यह सब किसी के क्रम से होते हैं अर्थात् पहले समयी का अधिकार प्राप्त कर पुत्रक भाव की प्राप्ति होती है, इसके बाद आचार्य भाव में स्थिति होती है, किन्तु किसी-किसी के जीवन में ये बिना क्रम से आते देखा गया है। जैसे कोई पुरुष समयी अवस्था प्राप्त हुए बिना पुत्रक अवस्था प्राप्त कर लेता है अथवा समयी और पुत्रक अवस्था को अतिक्रम कर आचार्य पद पर पहुँच जाता है। शक्तिपात की मात्रा मन्द रहने से जीव मायाधिकार को प्राप्त करता है और रुद्रांश भाव लाभ करता है। इसके बाद परमेश्वर की विशिष्ट कृपा से क्रमशः पुत्रक दीक्षा के बाद पूर्णत्व लाभ करता है। इसी का नाम 'समयी' है। अपेक्षाकृत तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से कोई-कोई पुरुष विशुद्ध अध्वा से युक्त होकर, देहान्त के बाद पूर्णत्व लाभ करता है अथवा क्रम लंघन कर जीवितकाल में ही पूर्णत्व लाभ करता है। इन सभी पुरुषों को 'पुत्रक' कहा जाता है। कोई-कोई पहले भोग और ऐश्वर्य प्राप्त कर वैराग्य से परमपद में स्थिति लाभ करते हैं। इन लोगों में योग्यता भेदानुसार कोई शीघ्र ओर कोई विलम्ब से लक्ष्य प्राप्त करता है। इन्हीं का नाम है 'साधक', किन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जो अपना कर्त्तव्य समाप्त करके पंचकृतकारी परमेश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं और 'गुरु' या 'आचार्य' के पद पर आरूढ़ होकर सभी जीवों पर अनुग्रह करते हैं। इनमें भी शिष्यों की विभिन्न योग्यता के अनुसार भेद अवश्य रहता है—अर्थात् कोई शिष्यों का भोग-विधान करता है, कोई मोक्ष का विधान करता है, किन्तु उनका अपना कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रहता।

शक्तिपात तीव्र, मध्य और मन्द भेद से मुख्यत: तीन प्रकार के होते हैं। इनमें प्रत्येक भेद तीव्र, मध्य और मन्द भेद के अनुसार पुन: तीन प्रकार के भेद हैं। इस प्रकार विभिन्न मात्रा के शक्तिपात के फल भी विभिन्न हैं। तीव्र शक्तिपात के तीन भेद इस प्रकार हैं—तीव्रतीव्र, मध्यतीव्र और मन्दतीव्र। तीव्रतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से स्वत: देहत्याग हो जाता है एवं मोक्ष प्राप्त होता है। भोग के द्वारा प्रारब्ध क्षय का प्रयोजन नहीं रहता। यह शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होने पर प्रारब्ध को भी नष्ट कर देता है, पर इस तीव्रतीव्र शक्तिपात का तारतम्य है। इसमें जो शक्तिपात अत्यन्त तीव्र है, उसके प्रभाव से शक्तिपात के साथ-साथ देहनाश हो जाता है। विद्युत्पात होने पर जिस प्रकार एक क्षण में देह ध्वंस हो जाता है, उसी प्रकार उत्कट तीव्रतीव्र शक्तिपात के कारण साथ ही साथ देहनाश हो जाता है, किन्तु तीव्रतीव्र में अपेक्षाकृत मध्यम मात्रा में शक्तिपात होने के कुछ देर बाद देह ध्वंस हो जाता है। तीव्रतीव्र शक्तिपात अगर और कम मात्रा में हो तो देह-नष्ट होने में अधिक समय लगता है, किन्तु वह अपने आप नष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि तीव्रतीव्र शक्तिपात से उसकी मात्रा के अनुसार से प्रारब्ध नाश होता है। मध्य तीव्र शक्तिपात से देहनाश नहीं होता। केवल अज्ञान निवृत्त होता है,[१] किन्तु इस अज्ञान-निवृत्ति के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह अलग से गुरु या शास्त्रों से प्राप्त नहीं होता। वह स्वयं ही हृदय में स्फुरित होने लगता है। अपनी प्रतिभा से स्फुरित होने के कारण इस अनौपदेशिक महाज्ञान को प्रातिभज्ञान कहा गया है। इस उदय के लिए शास्त्र तथा आचार्य की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रसंगत: यहाँ प्रातिभज्ञान के बारे में कुछ कहना उचित समझता हूँ। यह कहा जा चुका है कि मध्यतीव्र शक्तिपात से प्रातिभज्ञान का उदय होता है। सतर्क

---

१. प्रचलित शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यह कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध सहित समस्त कर्मों का दाह होता है एवं मध्यतीव्र शक्तिपात से प्रारब्धभिन्न अवशिष्ट कर्म दग्ध हो जाता है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि तीव्र शक्तिपात अज्ञान के आवरणांश तथा विक्षेपांश दोनों ही एकसाथ (जैसा तीव्रतीव्र मात्रा में होता है।) अथवा क्रमश: (जैसे तीव्रतीव्र के मध्य और मन्द मात्रा में होता है।) एवं मध्य-तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से अज्ञान का केवल आवरणांश नष्ट हो जाता है, विक्षेपांश रह जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

यहाँ समिद्ध अर्थात् वर्द्धित ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों का नाश कर देती है, ऐसा कहा गया है। यहाँ 'सर्वकर्म' कहने का अर्थ है कि प्रारब्ध इसके अन्तर्गत है। कारण 'समिद्ध' पद सूचित होता है कि यह ज्ञानाग्नि की तीव्रतीव्र अवस्था है।

अथवा शुद्धिविद्या इस ज्ञान का स्वरूप है। वास्तव में यह परमेश्वर की इच्छा के अलावा और कुछ नहीं है। जिन साधकों का चित्त सद्गुरु में आसक्त न होकर तत्त्वोपदेष्टा आचार्यों के प्रति अनुरक्त होता है, वे माया के पाश में आबद्ध हैं। वे परमेश्वर की वामाशक्ति द्वारा प्रेरित होते हैं। वे लोग जो मुक्ति प्राप्त करते हैं, प्रलयाकाल नामक पशु की अवस्था से किसी अंश में श्रेष्ठ नहीं हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शक्ति परमेश्वर की एक शक्तिविशेष का नाम है। शक्तिपात की न्यूनता के कारण असद्गुरु में अथवा द्वैतशास्त्रादि में ही जीव की प्रथम प्रवृत्ति होती है। इसके बाद भगवान् का ज्येष्ठाशक्तिरूपा मंगलमयी की इच्छा के प्रभाव से अर्थात् शुद्धा भगवत्शक्ति के समावेश के कारण जीव के हृदय में सत्स्वरूप प्राप्ति की इच्छा जाग जाती है। इस इच्छा का नाम सत्तर्क है। इसके बाद क्रमश: सद्गुरु का आश्रय प्राप्त होता है। उस वक्त अपनी योग्यता के अनुसार भोग या मोक्ष प्राप्त होता है। शक्तिपात के विचित्रतानुसार गुरु एवं शास्त्र में सद्भाव किंवा असद्भाव में वैचित्र्य उत्पन्न होता है। द्वैतशास्त्र या द्वैतगुरु परमेश्वर की वामशक्ति द्वारा अधिष्ठित हैं, इसलिए उनके द्वारा माया लंघन नहीं होता। वस्तुत: जो अवस्था मोक्षपदवाच्य नहीं है, उसे मोक्ष समझकर प्राप्त करने के लिए चेष्टा करना माया का ही कार्य है, किन्तु जब तक जीव के हृदय में सत्तर्क रूप शुद्ध ज्ञान का उदय नहीं होता है, तब तक सार और असार का ठीक-ठीक विवेचन हो नहीं सकता। सत्तर्क का उदय तथा ज्येष्ठा शक्ति का अधिष्ठान न होने से न तो अन्त:करण शुद्ध होता है और न शुद्धि मार्ग का आश्रय प्राप्त होता है, किन्तु यह सत्तर्करूप ज्ञान किस प्रकार से किया जाय, यही प्रश्न है। किरणागम में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि कभी-कभी यह ज्ञान गुरु और शास्त्र का अवलम्बन करने से उदित हो सकता है, किन्तु कभी-कभी यह स्वयं ही उद्भूत हो सकता है। उस वक्त गुरु का उपदेश अथवा शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती। इसे आचार्यों ने सांसिद्धिक और स्वप्रत्ययात्मक निश्चयरूप ज्ञान कहा है। सांसिद्धिक का मतलब है कि यह ज्ञान स्वाभाविक है, किन्तु इसका कोई हेतु नहीं है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि गुरुशास्त्रादि लौकिक हेतु न रहने पर भी भगवान् का शक्तिपातरूप हेतु है।

ज्ञानोदय के जिन तीन कारणों का वर्णन किया गया, उनमें गुरु से शास्त्र श्रेष्ठ है, क्योंकि गुरु से शास्त्र का अर्थज्ञान होता है। इसीलिए गुरु को उपाय और शास्त्र को उपेय समझा जाता है। शास्त्र से अपनी प्रतिभा श्रेष्ठ है, क्योंकि चरमावस्था में शास्त्रज्ञान भी प्रातिभज्ञान उत्पादन कर सार्थकता प्राप्त करता है। प्रातिभज्ञान का उत्पादन हो जाने पर एक ओर गुरु की जैसे उपयोगिता नहीं रहती, उसी प्रकार दूसरी ओर शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती।

किन्तु उत्कृष्ट योग्यता विशिष्ट पुरुष प्रातिभज्ञान गुरु और शास्त्र-मार्ग लंघन करके स्वतः उत्पन्न होता है। उसके लिए दीक्षा, अभिषेक आदि बाह्य संस्कारों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि संस्कारों का यथार्थ उद्देश्य आदि गुरु परमेश्वर को तत्-तत् क्षेत्रों में अधिष्ठित करना है, किन्तु प्रातिभवान पुरुष में यह अधिष्ठान स्वतःसिद्ध रहने के कारण सभी संस्कार निष्फल रहते हैं। शक्तिपात के प्रधान लक्षण भगवत्-भक्ति का उन्मेष है। जिस महान् पुरुष में प्रातिभ का उदय होता है, उसमें भगवद्भक्ति अवश्य रहता है। इन सभी स्थलों में दीक्षा एवं अभिषेक व्यापार अपनी-अपनी संविद देवीगणों के द्वारा अपने आप सम्पन्न हो जाता है। वहाँ क्रिया एवं दीक्षादि की आवश्यकता नहीं होती। प्रातिभज्ञान के उदय होने पर अपनी इन्द्रियवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रमाता अथवा आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करता है एवं देवीभाव प्राप्त करता है।[१]

यह सब शक्तिभावापन्न अथवा दैवी अवस्थाप्राप्त इन्द्रियाँ पुरुषों की ज्ञानक्रिया अथवा चेतना को उत्पन्न करती हैं। इसी का नाम है अन्तर्दीक्षा जिसके प्रभाव से साधक सर्वत्र स्वातंत्र्य प्राप्त करता है। पारमार्थिक दृष्टि से यही है अभिषेक का रहस्य। ऐसे सभी साधक अन्यान्य गुरुवर्ग से कहीं श्रेष्ठ हैं। साधारणतया गुरु से शास्त्रज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु प्रतिभावान पुरुष लौकिक निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए केवल प्रतिभा से सभी शास्त्रों का रहस्य ठीक-ठीक जान लेते हैं। इसी का नाम है—शुद्ध विद्यासमुल्लास अथवा प्रातिभ महाज्ञान।

शास्त्रों में लिखा है कि प्रातिभज्ञान का उदय अपने आप हो सकता है अथवा अन्य किसी का आश्रय लेकर भी हो सकता है। इस आश्रय में अपना बोध अथवा दूसरों के द्वारा रचित विभिन्न कर्मों के प्रतिपादक विभिन्न शास्त्रों के अन्तर्गत है—ऐसा समझना चाहिए। तांत्रिक परिभाषा में इस उपजीव्य आश्रय का नाम भित्ति है। इसीलिए इस ज्ञान को साधारणतया सभित्तिक एवं निर्भित्तिक कहा जाता है। जो ज्ञान अपने आप उत्पन्न होता है, उसे निर्भित्तिक कहा जाता है, किन्तु जो ज्ञान सभित्तिक है, वह अंशगामी भी हो सकता है और सर्वगामी भी हो सकता है। अंशमुख्य एवं अमुख्य भेद के अनुसार होने के कारण अंशगामी ज्ञान भी दो प्रकार के हैं। वास्तव में अनुग्रह पात्र शिष्य की योग्यता के तारतम्य के कारण ज्ञान को सभित्तिक कहा जाता है। जिनके सत्तर्क अपने आप उदित होकर सभी प्रकार के बन्धनों को ध्वंस करता है तथा जो इस प्रकार पूर्णत्व प्राप्त करते हैं, वे ही सांसिद्धिक गुरु हैं। वे अपने बारे में कृतकृत्य होने पर भी सर्वदा दूसरों पर अनुग्रह

---

१. बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्त्तिताः।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्त्तिताः॥
अर्थात् मन्त्र या चित्त के बहिर्मुख होने पर जिन्हें उसकी वृत्ति कहा जाता है, मंत्र अन्तर्मुख होने पर वे सब उसकी शक्तिरूप में वर्णित होती हैं।

करने के लिए प्रवृत्त रहते हैं।[1] अगर अनुग्रह-पात्र जीव का चित्त निर्मल होता है तो उसके अनुग्रह व्यापार में किसी उपकरण से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती। वे केवल अपनी शुद्ध अनुसंधानहीन चिदात्मिका दृष्टि के द्वारा ही सभी जीवों को आत्मज्ञान प्रदान कर उन्हें अपने समान बना लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अनुग्रह का फल है। इस प्रकार दूसरों के प्रति अनुग्रह प्रदर्शन के बारे में वे निरपेक्ष रूप से काम करते हैं। यही निमित्तिक ज्ञान की विशिष्टता है।

किन्तु अनुग्रह पात्र यदि शुद्धचित्त का न हुआ तो अनुग्रह व्यापार में उपकरणों की आवश्यकता होती है। अनुग्रह के पहले गुरु अनुग्रह पात्र पर अनुग्रह करेंगे, इसका संकल्प करते हैं। इसे अनुसंधान कहते हैं। बाद इस संकल्प के अनुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए इसमें सभी बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है तथा विधि मार्ग का आश्रय लेकर अग्रसर होना पड़ता है। गुरु साक्षात् परमेश्वर स्वरूप होने पर भी ऐसे क्षेत्र में उपायभूत शास्त्रादि का श्रवण, अध्ययन आदि का आदर करना पड़ता है। नाना प्रकार के अशुद्धजीव होने के कारण उनमें प्रत्येक संस्कार के अनुसार नाना प्रकार के उपकरण भी होते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न उपकरणों के प्रतिपादक भिन्न-भिन्न शास्त्रों की आवश्यकता होती है। इनके न होने पर इन सभी जीवों पर अनुग्रह नहीं किया जा सकता। रोग भिन्न होने पर जैसे औषधियाँ भिन्न होती हैं, वैसे ही चित्तभेद के अनुसार शास्त्रों का भी भेद रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्य की योग्यता देखकर उसके अधिकार के अनुसार उस पर अनुग्रह करते हैं। यहाँ सर्वगामी सभित्तिक ज्ञान का माहात्म्य है।

किन्तु कोई-कोई निर्दिष्ट शास्त्रों के अनुसार योग्य अनुग्रह पात्रों पर अनुग्रह करते हैं। यह अंशगामी सभित्तिक ज्ञान का व्यापार है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि यह अंश भी असंख्य हैं तथा उनमें परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष रहता है। इन अंशों में कोई मुख्य है तो कोई गौण। इसी वजह से अंशगामी ज्ञान में भेद है। स्मरण रखना होगा कि इसके विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिभारूपी गुरु अथवा स्वाभाविक ज्ञान समान रूप में रहता है, क्योंकि उसमें अपने विषय में कृत्य-कृत्यता का अभाव

१. स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयन् लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारक्यं प्रतिघटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटतरमिदं लोककर्त्तव्यमात्रम्॥

साधारण पुरुष किसी प्रकार अपने काम को करते रहते हैं। दूसरों के कार्य की ओर उनकी वृत्ति नहीं जाती, किन्तु जिनके समस्त सांसारिक मल नष्ट हो गये हैं, उन भागवत पुरुषों का कर्त्तव्य लोकहित भिन्न अन्य कुछ अवशिष्ट नहीं रहता।

नहीं है।[१] केवल दूसरों के हित के लिए ही विभिन्न प्रकार की भित्तियों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जीवानुग्रह सोपकरण या सोपाय तथा निरुपकरण अथवा निरुपाय भेद से दो प्रकार के हैं।

गुरु दीक्षा के द्वारा जिस प्रकार संसार-बंधन से मुक्त करते हैं एवं उसे सर्वज्ञत्व आदि ऐश्वरिक धर्म प्रदान करते हैं, उसी प्रकार प्रातिभज्ञान से फल प्राप्त होता है। दोनों में केवल इतना ही पार्थक्य है कि दीक्षा पराधीन एवं प्रातिभज्ञान अपना स्वभावभूत है। असली बात यह है कि जीव, ईश्वर और शक्ति ये तीन तत्त्व गुरु और आगम से तात्त्विक रूप से सिद्ध होने पर प्रातिभज्ञान के आकार में प्रकट होते हैं। गुरु और शास्त्र का यही महत्त्व है, अर्थात् जिस समय गुरु साधक के मायापाश से दीक्षा-रूप छेदन करते हैं और जिस समय साधक आगम द्वारा सत्यासत्य भावना में भावित होता है, वास्तव में उसी समय शिष्य का प्रातिभ तत्त्व खुल जाता है।

तदागमवशात् साध्यं गुरुबक्त्रान्महाधिया।
शिवशक्तिकरावेशात् गुरौः शिष्यप्रबोधकः॥[२]

जैसे भस्माच्छित अग्नि मुख प्रेरित वायु से दहक उठती है, जैसे ठीक समय पर बोया सींचा हुआ बीज अंकुर एवं पल्लवादि में अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार गुरु उपदिष्ट क्रिया के द्वारा प्रातिभज्ञान अभिव्यक्त होता है।

यह अनुत्तर महाज्ञान शास्त्रज्ञान से श्रेष्ठ है, क्योंकि यह विवेक से उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय तथा अप्रमेय चैतन्य तत्त्व से जिस समय विचार भूमि में अवतीर्ण होकर आत्मबोध रूप में प्रकट होता है तब उसका नाम विवेक होता है। उस अवस्था में जीव, ईश्वर, मायादि पाशों का ज्ञान अपने आप उदित हो जाता है, यही है प्रातिभज्ञान। सर्वदा अभ्रान्त होने के कारण इसे सम्यक् ज्ञान या महाज्ञान कहा जाता है। उस समय सब प्रकार के परिच्छिन्न ज्ञान अर्थात् इन्द्रियजन्य और अन्त:करणजन्य सभी खण्डज्ञान दूसरे की अधीनता छोड़कर उसी महाप्रकाश में विश्रान्त हो जाते हैं अर्थात् उसी में लीन हो जाते हैं। जैसे सूर्य की किरण के आगे दीपक का प्रकाश निष्प्रभ हो जाता है, उसी प्रकार प्रातिभज्ञान के उदय होने पर सभी खण्डज्ञान निष्प्रभ हो जाते हैं।

विवेक के उदय होने पर इन्द्रियगोचर शब्दादि विषयों में दूरश्रवणादि विचित्रज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसी समय देश, काल तथा आकारगत व्यवधान

१. ये सांसिद्धिक गुरु ही अकल्पित गुरु हैं। इन्होंने अन्य गुरु से क्रिया-दीक्षादि के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया है, इसलिए इन्हें अकल्पित कहा जाता है। इन्हें छोड़कर अकल्पितकल्प, कल्पित और कल्पिताकल्पित भेद से और भी तीन प्रकार के गुरु हैं। शास्त्र में लिखा है—

२. यह ज्ञान आगम और गुरुमुख के द्वारा पाया जा सकता है। गुरु के चैतन्यमय करस्पर्श से अर्थात् गुरुरूपी भगवान् की शक्तिरूप किरण के द्वारा शिष्य प्रबुद्ध होता है।

एवं सूक्ष्मता आदि रहने पर भी ज्ञान पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। योगशास्त्र में जितनी विभूतियों का वर्णन मिलता है, वे सभी विवेकवान को प्राप्त होती हैं अर्थात् शक्तिज्ञान का इतना सामर्थ्य है कि तन्त्रोक्त क्रियाकर्म, षट्चक्र, स्वर-साधन मन्त्रबोध, परकाय प्रवेश आदि सभी में उसका अधिकार हो जाता है। क्षण भर में ये सब आयत्त हो जाते हैं। विवेक की वृद्धि के साथ-साथ सभी भावों के प्रति चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है और विकास होता है। चरम स्थिति में परम चिद्भाव विश्रान्ति होती है। उस वक्त किसी सिद्धि के प्रति आसक्ति नहीं रहती, उस वक्त ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये सब ऐश्वर्य की लीला बच्चों का खेल है, स्वप्न या इन्द्रजाल की तरह अलीक हैं।

दर्पण में जैसा अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार प्रातिभज्ञान के आलोक से एकसाथ भीतर-बाहर सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष अनुभव होती है। उस वक्त प्रतीत होता है कि समग्र विश्व उनका घनीभूत प्रकाश-मात्र है। इस अवस्था में हेय-उपादेय बोध न रहने के कारण साधक परिछिन्न सिद्धि के आश्रयभूत तत्-तत् प्रकार के निर्दिष्ट ध्यान परित्यक्त हो जाते हैं। उस वक्त एकमात्र परम वस्तु की भावना ही जागरूक रहती है।[1] इस भावना की दृढ़ता से ही जीवन्मुक्ति होती है। एक बात और—विवेक की बुद्धि से शाप और अनुग्रह के बारे में साधक सामर्थ्य प्राप्त करता है। इसीलिए विवेकवान् स्वयं ही होकर अनेक को मुक्त कर सकते हैं।

बद्धजीवरूपी अणु पंचभूतों से आच्छन्न एवं इन्द्रिय विशिष्ट है। इसीलिए उसे एक देह से निष्क्रान्त होकर अन्य देह ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु विवेक के उदय होने पर जब उसके साथ प्रतिभा का योग होता है,[2] तब वह जीव फिर जीवरूप में परिगणित नहीं होता। उस समय उसका स्थान शक्तितत्त्व के अन्तर्गत हो जाता है। उस वक्त वह शुद्ध विद्या अवस्था प्राप्त कर निग्रह और अनुग्रह में समर्थ होते हैं एवं इसमें क्रमशः प्ररूढ़ होकर अर्थात् शक्तिपात के क्रमिक आवेश के कारण संसार-समुद्र उत्तीर्ण होते हैं तथा उत्तरोत्तर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर,

---

१. साधक के चित्त में विश्वास उत्पादन करना ही सिद्धियों का वास्तविक उद्देश्य है अर्थात् इस देह में रहते हुए सिद्धियाँ प्राप्त होने से यह विश्वास होता है कि देहपात के बाद मुक्तिलाभ अवश्य होगा। जिनका विश्वास दुर्बल है, उनके लिए सिद्धियों की यही उपयोगिता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में, ज्ञान की तीव्रता सिद्ध होने पर उदासीनता और अनासक्ति होती है। उस वक्त एकमात्र परमतत्त्व की कामना दृढ़ होती है। उस समय जीवन्मुक्ति निश्चित है।

२. पातंजलदर्शन में विवेकज ज्ञान के रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह सर्व विषयक, सर्वथा विषयक तथा क्रमहीन अनौपदेशिक तारक ज्ञान है। महोपनिषद (अध्ययन-२) में है कि शुकदेव ने जन्मकाल से ही इस महाज्ञान को प्राप्त किया था। यह उनको विवेक से स्वतः प्राप्त हुआ था —

सदाशिव और शिव नामक छ: कारण या अधिष्ठाता का त्याग करते हुए अन्त में परमेश्वर-सायुज्य प्राप्त करते हैं। अतएव शिव, शक्ति तथा जीव ही वस्तुत: प्रातिभविज्ञान रूप में प्रादुर्भूत होते हैं।

आत्मा का स्वाभाविक पूर्ण आत्मबोध संकुचित होकर ही अपूर्ण ज्ञान अथवा अज्ञान का आकार धारण करता है। शक्तिपात से संकोच हट जाने पर उसे नित्यसिद्ध स्वभाव की स्फूर्ति अवश्य होती है। मध्य तीव्र शक्तिपात के निम्नलिखित लक्षण शास्त्र में बताये गये हैं—

१. भगवान् में निश्चला भक्ति।

२. मंत्रसिद्धि, जिसके प्रभाव से श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है।

३. सभी तत्त्वों को आयत्त करने का सामर्थ्य।

४. आकस्मिक रूप में सर्वशास्त्रों का अर्थज्ञान इत्यादि।

ये सब लक्षण क्रमश: अभिव्यक्त होते हैं। शक्तिपात के तारतम्य से किसी साधक में सभी प्रकट होते हैं और किसी साधक में कई-एक प्रकट होते हैं। इनमें भक्ति, मुक्ति विषय में प्रधान, अन्यत्र आनुषंगिक है। मंत्रसिद्धि भोग विषय में प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक है। अन्य दो लक्षण दोनों समान हैं।

मन्दतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से सद्गुरु लाभ की इच्छा होती है। उस समय असद्गुरु के पास जाने की इच्छा नहीं रहती। शक्तिपात होने के बाद किसी में मन्द प्रातिभज्ञान उदय होता है—उस वक्त तत्त्व क्या है और उसके अपरोक्ष ज्ञान किसमें हैं, यह सब जानने की इच्छा होती है। इसके बाद सद्गुरु प्राप्त करने की इच्छा होती है और यथासमय वह प्राप्त होता है, पर किसी-किसी में ऐसा होता है कि शक्तिपात के बाद जागतिक उपदेष्टा या व्यवहारिक गुरु के साथ परिचय होता है। इसके कुछ दिनों बाद शुभ संग के प्रभाव से पूर्वोक्त जिज्ञासा उत्पन्न होता है।

सद्गुरु सांसिद्धिक या संस्कृत भेद से दो प्रकार के होते हैं। सांसिद्धिक गुरु में स्वयं ही—अपने आप—ज्ञान का उदय होता है। ये शक्तिपात के मात्रानुसार क्रमशून्यता या क्रमवत्तानिबन्धन सर्वगामी या आंशिक हो सकते हैं।

जो गुरु अन्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे संस्कृत गुरु हैं। ये गुरु भी कल्पित-अकल्पित आदि भेद के कारण विभिन्न प्रकार के हैं। जीव सद्गुरु से

जातमात्रेण मुनिराट् यत्सत्यं तदवाप्तवान्।
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामना:॥
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥

इस ज्ञान के प्रभाव से वे गुरु के उपदेश के अलावा परमार्थतत्त्व प्राप्त कर चुके थे और उनकी भोग-वासना निवृत्त हो गयी थी, किन्तु ज्ञानदृढ़ न होने के कारण उनके मन में शान्ति नहीं थी। अपने ज्ञान में उन्हें विश्वास नहीं था। इसलिए अपने पिता श्रीव्यासदेव के आदेश से उन्हें विदेहराज जनक के पास जाना पड़ा था।

दीक्षा प्राप्त कर शिवत्व-लाभ करता है और सभी विषयों का तत्त्वज्ञान सम्पन्न होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में देहादि में आत्माभिमान नहीं रहता एवं विकल्पशून्य स्वात्मबोध उदय होता है। उस समय देह का रहने या न रहने में कोई फर्क नहीं पड़ता। रत्नमाला आगम में लिखा है—

यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
तदैव किल मुक्तोहसौ यंत्रं तिष्ठति केवलम्॥

जीवन्मुक्त का सुख-दुःखानुभव प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है, किन्तु यह अनुभव होता है, इसलिए उसकी मुक्ति के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता।[१] मध्यतीव्र और मन्दतीव्र शक्तिपात के बारे में महापुरुषों में कुछ मतभेद दिखाई देते हैं। यहाँ उसकी आलोचना अनावश्यक है।

तीव्रमध्य शक्तिपात के बाद जो दीक्षा होती है, उससे अपने शिवत्व की सुदृढ़ उपलब्धि नहीं होती। दीक्षा के साथ-साथ शिवभाव अवश्य होता है, किन्तु किसी को स्पष्ट अनुभव नहीं होता। निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार का अभाव ही इसका कारण है। गोकि देहान्त के बाद उसका शिव-सायुज्य निश्चित है। इस दीक्षा का शास्त्रीय नाम पुत्रकदीक्षा है।

मध्यमध्य और मन्दमध्यशक्तिपात से भगवत्-प्राप्ति की उत्सुकता रहने पर भी भोगाकांक्षा निवृत्त न होने के कारण दीक्षा में भी उसी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस दीक्षा का अनेक स्थानों में शिवधर्मी साधक दीक्षा नाम से वर्णन किया गया है। इसके प्रभाव से इष्टतत्त्वादि में योजना स्थापित होती है और योगाभ्यास आदि के द्वारा उस स्थान के भोगों को भोगने का अधिकार उत्पन्न होता है। मध्यमध्य शक्तिपात के द्वारा यह भोग वर्तमान देह के रहते ही हो जाता है एवं भोग-समाप्ति पर देहान्त के बाद शिवत्व प्राप्त होता है, किन्तु मन्दमध्य शक्तिपात के द्वारा वह भोग वर्तमान देह में न होकर भावी देहान्तर में होता है। इसके बाद शिवत्व-लाभ होता है।

तीव्रमन्द, मध्यमन्द और मन्दमन्द—ये तीन प्रकार के शक्तिपात भोगाकांक्षा प्रधान रहते हो जाता है। शक्तिपात के इन मन्द अधिकारियों के चित्त में शिवत्व-

---

१. अविद्योपासितो देहो ह्यन्यजन्मसमुद्भवः।
कर्मणा तेन बाध्यन्ते ज्ञानिनोहपि कलेवरे॥

देह अन्यजन्मकृत कर्म के प्रभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिए उक्त कर्म द्वारा ज्ञानी भी बाधित होते हैं। प्रारब्ध कर्म शुद्ध होना आवश्यक है। अन्यथा अर्थात् यदि मंत्रादि के प्रभाव से सद्यनिर्वाणदायिनी दीक्षा के द्वारा देहपात होता है, तब मृत्यु के बाद शोधनावशिष्ट देहारम्भक कर्मों के फलस्वरूप आयु भोग प्रभृति तो अवश्य ही भोग करना पड़ता है। जब तक यह भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिए विधान यह है कि मरण-क्षण बिना जाने प्राणवियोजिका दीक्षा देना उचित नहीं है। इस प्रकार की दीक्षा देने से भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन होता है।

लाभ के प्रति उत्सुकता नहीं रहती। इनमें एक के बाद एक भोग लालसा अधिक रहता है। इन सब क्षेत्रों में लोकधर्मी दीक्षा की आवश्यकता होती है। तीव्रमन्द शक्तिपात होने से देहान्त के बाद साधक अभीष्ट भुवन में अणिमादि ऐश्वर्य भोग करते-करते ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। उसके पश्चात् परमेश्वर के स-कल रूप में और बाद में उनके निष्कल रूप में युक्त हो जाता है, किन्तु शक्तिपात और भी कम होने पर अर्थात् मन्दमन्द मात्रा में होने पर किसी भुवन में कुछ समय तक भोग्य पदार्थों का उपभोग करके उस भुवन के अधिष्ठाता से दीक्षा-ग्रहण पूर्वक शिवत्व-लाभ करता है, किन्तु मन्दमन्द शक्तिपात होने पर उसी भुवन में सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य प्राप्त कर अत्यन्त दीर्घकाल तक भोगों का आस्वादन करते हुए भुवन के नायक भुवनेश्वर के निकट दीक्षा ग्रहण करने के बाद शिवत्व-लाभ करते हैं।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया, उससे यह समझ में आया कि शक्तिपात या श्री भगवान् की कृपा के अलावा कोई जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर सकता। केवल यही नहीं—पूर्णत्व के पथ पर प्रवेश नहीं कर सकता। शक्तिपात का तारतम्य जीव का आधार या धारण-शक्तिगत तारतम्य के कारण होता है, किन्तु यह भी सत्य है कि जीव चाहे कितना ही निम्नाधिकारी और भोगाकांक्षायुक्त क्यों न हो, कभी न कभी परमपद अवश्य प्राप्त करेगा। भोगाकांक्षा आदि अन्तराय रहने पर उसकी गति में विलम्ब होगा, अन्यथा शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो जायगा। यहाँ तक कि एक क्षण में हो सकता है (जैसे तीव्रतीव्र की तीव्रमात्रा में)। शक्तिपात के समय योग्यता पर विचार नहीं किया जाता, किन्तु स्वभावतः योग्यता के अनुसार शक्तिपात की मात्रा निर्दिष्ट होती है, किन्तु मात्रा चाहे जितनी हो, भगवत्-शक्ति की महिमा ऐसी है कि एक बार पात होने पर जीव को भगवत्धाम बिना पहुँचाये शान्त नहीं होता—इसमें कोई सन्देह नहीं।

मंत्र या देवता रहस्य

गुरुत्व के साथ मंत्र या देवतातत्त्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब उसकी सामान्य आलोचना की जा रही है। मंत्र का स्वरूप क्या है, मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में इसका स्थान कहाँ है, मंत्र की साधना का तात्पर्य क्या है, ऐसे सभी प्रश्न साधारण रूप से तत्त्वजिज्ञासु साधकों के मन में पैदा होते हैं। इसके साथ ही आनुषंगिक अन्य प्रश्न भी पैदा होते हैं। इस विषय की वास्तविक जानकारी प्राप्त करने के लिए मंत्र-रहस्य के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

परमेश्वर सृष्टि के आदि में अपनी बहिरंग-शक्ति महामाया या बिन्दु के ऊपर दृष्टिपात करते हैं। यही दृष्टिपात ही चैतन्यशक्ति का संचार है। दृष्टिपात के पूर्व मुहूर्त तक महामाया सुप्तावस्था में विद्यमान रहती हैं। विशुद्ध जड़शक्ति का नाम महामाया है। जो अणुरूपी जीव पूर्वकल्प में साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेकज्ञान आदि के कारण अशुद्ध जड़शक्तिरूपा माया का अतिक्रम करने में समर्थ हुए हैं, किन्तु परमेश्वर के निज स्वरूप में उपनीत नहीं हो सके, वे महामाया के गर्भ में विद्यमान रहते हैं। इन जीवों की अवस्था सुषुप्ति के समान है, इसमें कोई सन्देह नहीं। माया से मुक्त होने के कारण इन सब जीवों जैसे अशुद्ध मायिक देह अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह नहीं रहते, वैसे ही कोई उच्चतर विशुद्ध शरीर भी नहीं रहता। वे माया से ऊपर, महामाया के गर्भ में लीन रहते हैं। माया गर्भ में अवस्थान की जो स्थिति है, महामाया के गर्भ में अवस्थान में भी उसी प्रकार की है—दोनों में केवल आवरण का पार्थक्य है। अप्राकृत दिव्य अवस्था या भागवत अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। चैतन्य के विकास के बिना उनका आविर्भाव नहीं होता। वही पशुत्व के अतीत की अवस्था है। माया की निद्रा एवं महामाया की निद्रा, इन दोनों में पशुभाव विद्यमान है। पशुत्व रहने तक वास्तविक जागरण कैसा?

महामाया के विश्रान्ति के समय उसके गर्भ में निहित जीव सभी सुषुप्त रहते हैं। उनके जीवत्व पशुत्वमूलक हैं। चैतन्य के उन्मेष न होने तक वह तिरोहित नहीं होता। विदेह कैवल्य प्राप्त उन सब जीवों के लिए भगवत्ता प्राप्त करने में दो बाधाएँ हैं। एक आत्मा का स्वरूपगत अणुत्व या पशुत्व, यह है अभिन्न-ज्ञान-क्रियात्मक चैतन्य स्वरूप का आच्छादन। दूसरा है महामाया का सम्बन्ध। इन दोनों आवरण से निवृत्त होने पर शुद्ध भगवत्ता की अभिव्यक्ति का मार्ग खुल जाता है।

जब सृष्टि के प्रारम्भ में महामाया में चैतन्य शक्ति का आधान होता है तब वह शक्ति क्रिया के कारण महामाया क्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती है एवं उसमें सुप्तवत् निहित अणुरूपी सभी जीव जाग उठते हैं। निद्राकाल में सभी जीव विदेह अवस्था में महामाया में लीन रहते हैं, किन्तु महामाया के क्षुब्ध होते ही उनकी नींद टूट जाती है। देह-सम्बन्ध के अलावा कोई भी अणु कभी जाग नहीं सकता। इसीलिए महामाया के क्षोभ के कारण, क्षुब्ध महामाया से उन सभी अणुओं के प्रयोजनानुरूप देहादि उत्पन्न एवं विकसित होते हैं। फलस्वरूप जब वे जाग जाते हैं तब कोई भी विदेह नहीं रहता—वे महामायाजात देह लेकर प्रकाशित होते हैं।

महामाया में चैतन्यशक्ति का आवेश और उन सभी अणुओं में चैतन्यशक्ति का संचार एक ही बात है, क्योंकि सुप्तावस्था में भी सभी अणुएँ महामाया के साथ अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हैं।

महामाया के गर्भ में असंख्य अणु रहते हैं। महाप्रलय की अवस्था में वे सभी समभाव में लीन रहने पर भी चेतनशक्ति के संपात से सब समभाव में प्रबुद्ध नहीं होते और न हो सकते हैं। किसी-किसी अणु का जागरण होता है, सबका नहीं। यद्यपि सभी अणु मलयुक्त हैं तथा चैतन्य या भगवदनुग्रह की आवश्यकता सभी को समानरूप से है, यद्यपि मल की परिपक्वता सभी की समान रूप से नहीं है। जिनका मल जितना अधिक परिपक्व होता है, उसका मल उतने अधिक परिमाण में चैतन्यशक्ति की ओर उन्मुख होता है। अनादिकाल से मल ने आत्मा को अणु रूप में परिणत किया है। अणुत्व ही पशुत्व है—यह आत्मा का स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म शिवत्व या पूर्ण चैतन्य है। यह ज्ञानशक्ति या क्रियाशक्ति का अभिन्न और अपरिच्छन्न स्वरूप है। मल अनादि होने पर भी आगन्तुक है। उसके द्वारा स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस समय शिवरूपी आत्मा जीव या पशु-रूप में परिणत होता है। यह मल कालशक्ति द्वारा निरन्तर परिपक्व हो रहा है। सृष्टि काल में परिपाक के अन्य उपाय नहीं हैं, सो बात नहीं है, पर प्रलयकाल में वे उपाय काम नहीं देते हैं। परिपक्वता की एक ऐसी मात्रा है जिसके प्राप्त होने पर वे सब अणु अपने आप चैतन्यशक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। आकाश स्थित सूर्य की किरणें समुद्र के ऊपर और कुछ तल देश में पड़ती है, किन्तु जितने जीव उस किरण रेखा की सीमा तक नहीं आ पाते, वे सब कम से कम उस किरण की क्रिया से मुक्त रहते हैं। दूसरी ओर जिन्हें उन किरणों का स्पर्श प्राप्त होता है, वे उनके प्रभाव से जाग उठते हैं और अपने मलपाक की मात्रा के अनुरूप विशुद्ध देह प्राप्त कर शुद्ध जगत् में संचरण करते हैं। अतएव अपेक्षाकृत अपक्वमल वाले जीवों की सुषुप्ति भंग नहीं होती। साधारणतया कल्पान्तर से यह भी होने की सम्भावना रहती है।

कहना न होगा कि यहाँ हमने परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति की लीला का उल्लेख नहीं किया। स्वातन्त्र्य-शक्ति की ओर से विचार करने पर मल की परिपक्वता के ऊपर चैतन्य-शक्ति का संचार निर्भर करता है, यह बात सर्वत्र सम्पूर्ण रूप से सत्य मानना सम्भव नहीं है। यहाँ पर साधारण नीति का ही अनुसरण किया गया है। जिन जीवों का आलोक-स्पर्श होता है, यह जो कहा गया है, वे सब पुराने जीव हैं। वे संसार में पतित हुए थे और प्रत्यावर्तन के जरिये माया तक तत्त्व भेद कर, देह से मुक्त होने के बाद महामाया में 'केवली' रूप में विलीन हो गये हैं। इनके मायाराज्य का भेद हो जाने पर भी सम्पूर्ण रूप से ये वासना-मुक्त नहीं हुए हैं, क्योंकि मायातीत वासना अभी तक इनमें है। मायिक वासना को क्षीण करने के लिए मायिक देह धारण कर मायिक-जगत् में कर्म करना पड़ता है। देह ग्रहण न करने पर वासना का क्षय नहीं होता। मायातीत वासना का क्षय करने के लिए उसी के अनुकूल देह धारण कर तादृश कर्म करना आवश्यक है। मायिक वासना मलिन है, किन्तु मायातीत वासना शुद्ध है। कर्तृत्व के अभिमान से मायिक जगत् में कर्म होता है और भोक्तृत्व अभिमान से मायिक जगत् में भोग होता है। कर्मानुष्ठान और कर्मफल भोग को ही संयुक्त रूप से संसार कहा जाता है, किन्तु मायातीत वासना स्थूल में, कर्म के मूल में भी अहंकार नहीं है और न भोग के मूल में अहंकार है। इसलिए उसे वास्तविक संसार नहीं कहा जा सकता। संसार कहने पर उसे शुद्ध संसार कहा जा सकता है। यह मायातीत कर्म ही 'अधिकार' और मायातीत भोग ही वास्तविक भोग या 'सम्भोग' है। इस अधिकार और भोग से अतीत अवस्था 'लय' है।

अब प्रश्न यह है कि यह मायातीत वासना विदेह अणु में किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि मायातीत वासना मायातीत देह द्वारा ही तृप्ति प्राप्त करती है। मायिक वासना की तृप्ति मायिक उपादान से होती है, किन्तु मायातीत वासना की तृप्ति मायिक उपादान से कैसे हो सकती है? इसीलिए मायातीत उपादान की आवश्यकता होती है, उसी का नाम है—महामाया। जब चैतन्यशक्ति महामाया को स्पर्श करती है तब पूर्व वर्णित पक्वमल सभी जीव जाग उठते हैं और क्षुब्ध महामाया से निर्मित देह में अधिष्ठान करते हुए अपने-अपने कार्य के साधन में प्रवृत्त होते हैं। महामाया का नामान्तर है—कुण्डलिनी शक्ति। पूर्वोक्त पक्वमल वाले जीवों के देहादि कुण्डलिनी-शक्ति से निर्मित होते हैं। वे जीव उस वक्त जीवपद वाच्य नहीं रहते। वे जीव होते हुए भी ऐश्वरिक शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

परमेश्वर की करुणा दृष्टिरूप चैतन्यशक्ति के संचार की बात पहले कही जा चुकी है। यह वस्तुतः चित्शक्ति का क्रियाशक्ति के रूप में उन्मेष है। चित्शक्ति की

सक्रिय तथा निष्क्रिय दो अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः दो अवस्थाएँ न होने पर भी कार्यगत भेद के कारण कृत्रिम रूप से दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं। निष्क्रिय अवस्था में क्रिया के अभाव के कारण शक्ति का संचार नहीं होता, अतएव यह शक्ति का संचार वास्तव में चित्शक्ति का व्यापार है। इसी का दूसरा नाम दीक्षा है। परमेश्वर स्वयं क्रियाशक्ति के प्रवर्तक के रूप में चैतन्यदाता गुरु हैं। पूर्ववर्णित परिपक्वमल जीव सृष्टि के प्रारम्भ में उक्त दीक्षा पाकर महामाया से उद्भूत विशुद्ध देह प्राप्त करने पर, परमेश्वर के आदि शिष्य के रूप में शुद्ध जगत् या महामायिक जगत् में स्थिति प्राप्त करते हैं। हमलोग जिस मायिक-जगत् से परिचित हैं, उसकी सृष्टि, स्थिति आदि सभी व्यापारों का चरम भार इन्हीं के जिम्मे है। ये जीव होते हुए भी ईश्वरकल्प हैं, किन्तु नित्य सिद्ध परमेश्वर से न्यून हैं। क्योंकि इनमें शुद्ध वासना है, परमेश्वर में वासना नहीं होती। समष्टि रूप से समग्र जगत् की कल्याण-कामना करना—यही शुद्ध वासना का स्वरूप है। फिलहाल यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि विशुद्ध वासना से परे हो जाने पर ही विशुद्ध भगवद्भाव की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। वह तो विशुद्ध कैवल्य अवस्था है, भगवद्वस्था नहीं।

सृष्टि के पहले परमेश्वर की चैतन्यमयी शक्ति पाकर जो जीव विशुद्ध-देह प्राप्त करते हैं, वे सभी समभावापन्न नहीं होते। उनमें अवान्तर भेद रहता है। एक हिसाब से सभी को एक स्तर का कहा जा सकता है, क्योंकि सभी में चित्शक्ति का उन्मेष मौजूद है। सभी शुद्ध विद्या प्राप्त कर शुद्ध राज्य के निवासी हुए हैं एवं न्यूनाधिक भाव में होने पर भी, सभी में क्रियाशक्ति जाग्रत् हुई है। क्रियाशक्ति के विकास में तारतम्य रहने के कारण इनमें तारतम्य दिखाई देता है। वास्तव में शुद्ध जगत् के चेतनवर्ग में जो विषमता दिखाई देती है, उसका कारण क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति का तारतम्य ही है। यह तारतम्य होता क्यों है, इसकी खोज करने पर पता चलता है कि अणुओं का मल समानरूप से परिपक्व नहीं रहता, भगवत्शक्ति अर्थात् परमेश्वर की क्रिया-शक्ति को सब समान रूप से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। मल के जिस परिमाण में परिपक्व हुए बिना चित्शक्ति का स्पर्श सहन नहीं किया जा सकता, वह शुद्ध राज्य के निवासी सभी के आयत्त या अधिगत हो गया है, यह सत्य है, किन्तु इस परिपक्वता का तारतम्य है। तदनुसार जिसमें परिपक्वता अधिक होती है, उसमें क्रियाशक्ति का आवेश अधिक मात्रा में होता है। मल के परिपाक हुए बिना क्रिया-शक्ति धारण नहीं की जा सकती। इसीलिए अपक्वमल अवस्था में, क्रियाशक्ति का संचार कत्तई नहीं होता। इसीलिए मलपाक न होने पर श्रीगुरु कभी भी जीव पर अनुग्रह नहीं करते।

पक्वमल अणुओं में जिनके मल सर्वापेक्षा अधिक परिपक्व हैं, क्रियाशक्ति के आवेश होने पर उनमें कर्तृत्व भाव का उदय होता है। यह कहना आवश्यक है

कि यही शुद्ध कर्तृत्व है। इसका अहंकार से सम्बन्ध नहीं रहता। इनके नीचे काफी तायदाद में पक्वमल अणु पूर्वोक्त प्रणाली से भगवत्शक्ति को प्राप्त होते हैं एवं वे चैतन्य प्राप्त करते हैं। इनकी क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत कम होने के कारण इनमें कर्तृत्वभाव का उन्मेष न होकर करुणभाव का उन्मेष होता है। जिन कई जनों में कर्तृत्वभाव का उन्मेष होता है, वे एक हिसाब से सजातीय होने पर भी, उनमें भी परस्पर एक प्रकार का भाव न्यूनाधिक्य रहता है। उसी प्रकार कारणशक्तिमय समष्टि में भी आपस में उक्त प्रकार का न्यूनाधिक्य रहता है। जो कर्तृभावापन्न हैं, वे ईश्वरतत्त्व का आश्रय लेकर रहते हैं और जो कारणभावापन्न हैं, उनका अवलम्बन केवल शुद्ध विद्यातत्त्व है। यह विद्या मायातीत ज्ञानस्वरूप है। जो कुछ जन ईश्वरतत्त्व में अवस्थान करते हैं, वे ईश्वर या गुरु हैं, जो विद्यातत्त्व के आश्रय में रहते हैं, वे मन्त्र या देवता हैं। ये सब मन्त्र ईश्वर अथवा गुरु के अधीन होते हैं। ये गुरु के द्वारा प्रयुक्त होकर मायिक जीव का उद्धार करते हैं। ये स्वतःप्रेरित होकर पूर्वोक्त जीवोद्धार कार्य में व्यापृत हो नहीं सकते, क्योंकि ये कारण हैं, कर्त्ता नहीं।

गुरु और देवता दोनों ही शुद्धदेहसम्पन्न हैं। परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति से दोनों में अपना स्वरूपज्ञान जाग उठा है। अपने शिवत्व बोधरूप ज्ञान का उदय दोनों में समान रूप से हुआ है, पर गुरु कर्तृभाव लेकर और देवता करणभाव लेकर कार्य करते हैं। इसके अलावा अन्य दृष्टि से भी दोनों में कुछ अन्तर है। यद्यपि परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति दोनों में पतित (पड़ी) है, तद्यपि व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से तारतम्य रह सकता है। जो आत्माएँ तत्त्वभेद कर्म से ऊर्ध्वगति होने के कारण माया का अतिक्रम करने में समर्थ हुए हैं, वे मलपाक के कारण भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर देवता के पद पर आरूढ़ होते हैं। इनका नाम मंत्र है। आत्मिक विकास इतना हुए बिना वास्तविक देवत्व प्राप्त नहीं होता। माया के अन्तर्गत देवताओं की बात हम नहीं कह रहे हैं। मायातीत देवता का एकमात्र शुद्ध शरीर रहता है, अशुद्ध देह नहीं रहता, किन्तु गुरु की अवस्था दूसरे प्रकार की है। मल यदि अत्यन्त परिपक्व होता है तो चैतन्यशक्ति का अवतरण उसमें अवश्य होता है और मलपाक की तीव्रता के कारण कर्तृभाव का आवेश स्वाभाविक है। ये सब अणु दीक्षा प्राप्त कर आचार्य का अधिकार प्राप्त करते हैं। तत्त्वभेद के क्रम से इनका चाहे जितना भी हो, उतना यथेष्ट है। वे जिस तत्त्व में स्थित हैं, गुरुपद पर आरूढ़ होने पर उनका मायिक देह उसी तत्त्व का रहता है, किन्तु भगवदनुग्रह से जो विशुद्ध देह या वैन्दव देह की प्राप्ति होती है, वह गुरुपद वाच्य है और आत्माओं की एक ही प्रकार है। मायातत्त्व का भेद न करने तक प्रत्येक गुरु के दो देह रहते हैं। इनमें एक गुरुदत्त शुद्ध देह, जो महामाया या कुण्डलिनी के उपादानों से निर्मित है एवं दूसरा अपना मायिक शरीर है। यह

दूसरा शरीर जीव के क्रम-विकास की मात्रा के अनुसार किसी न किसी तत्त्व के आश्रय में रहता है, अर्थात् किसी का मायिक स्थूल देह पार्थिव, किसी का जलीय, किसी का तेजस इत्यादि। देह के विकास का मतलब है, देह के उपादानों को निम्नवर्ती तत्त्व से ऊर्ध्व तत्त्वों में परिणत करना। कार्य की गति कारण की ओर और कारण की गति उसके स्वकारण की ओर होती है। इसी प्रकार पार्थिव देह जलीय देह में एवं जलीय देह तेजस देह में परिणत हो सकता है। यही शरीर का उपादान सम्बन्धी उत्कर्ष है। भगवान् से प्राप्त अनुग्रह इस तत्त्वभेदरूपी उत्कर्ष पर निर्भर नहीं है। यह उत्कर्ष प्राकृतिक क्रम-विकास का फल है। चैतन्यशक्ति का अवतरण एकमात्र मल की परिपक्वता पर निर्भर है। इसीलिए किसी को पृथ्वीतत्त्व बिना भेद किये भगवदनुग्रह प्राप्त हो जाता है और किसी को मायातत्त्व अतिक्रम कर लेने पर भी प्राप्त नहीं होता। तत्त्वभेद पर शक्ति का अवतरण निर्भर नहीं करता, किन्तु यह निश्चित है कि अणु के मायातत्त्व का भेद करने पर भी जितने दिनों तक मलपाक करणभाव की अभिव्यक्ति का उपयोगी नहीं होता है, उतने दिनों तक उसके ऊपर भगवान् की अनुग्रहशक्ति संचारित नहीं होती। उन सब अणुओं को कल्पान्तर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्योंकि देवदेह की रचना सृष्टि के समय नहीं होती, सृष्टि के प्रारम्भ में होती है। मायाभेद न हुआ हो तो कोई प्रश्न ही नहीं होता। क्योंकि मायाभेद न करने तक किसी आत्मा में मलपाक के कारण भगवान् से शक्तिलाभ प्राप्त करने पर भी देवत्व का आविर्भाव सम्भव नहीं होता। मायाभेद के पश्चात् जो आत्मा मलपाक के कारण भगवदनुग्रह प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करते हैं, उनके ऊपर कल्पान्तर में शक्ति का अवतरण होता है। उस कल्प में वे सब आत्माएँ महामाया में लीन रहते हैं।

इसलिए यह निश्चित है कि किसी विशिष्ट कल्प की आत्मा अनुरूप मलपाक होने पर भी उस कल्प में देवत्व-लाभ नहीं कर सकती। यहाँ तक कि मायाभेद हो जाने पर भी वह नहीं हो सकता। उसे महामाया में कल्पनान्तर का आरम्भ होने तक विश्राम करना पड़ता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु में शक्ति का अवतरण ही प्रधान है, अर्थात् जितना मलपाक होने पर कर्तृत्व का आवेश दीक्षाकाल में होना सम्भव है, वह होगा ही। मायाभेद यदि न किया हो तो भी कोई क्षति नहीं है। यहाँ तक कि किसी निम्नवर्ती तत्त्व में स्थिति हो तो भी क्षति नहीं है। क्योंकि गुरुभाव की अभिव्यक्ति से जीव की स्वकृत ऊर्ध्वगति की मात्रा का निर्देश आवश्यक नहीं है। ठीक-ठीक मलपाक होने पर अपने विकास के फलस्वरूप जो जहाँ है, वहाँ से भगवदनुग्रह प्राप्त कर शुद्धदेह एवं आचार्य का अधिकार प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि उसका मायातत्त्व भेद हो गया हो तो उसे नये जन्म के प्रारम्भ तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

सभी जगह यह सत्य है कि देवता गुरु के अधीन हैं। देवता स्वभावतः महामाया के राज्य के निवासी हैं, किन्तु गुरु महामाया राज्य के निवासी होते हुए भी साथ ही साथ माया राज्य के निवासी हो सकते हैं। अवश्य ही यहाँ पर सृष्टिकालीन गुरु की बातें कही जा रही हैं, जिनके मायादेह एवं शुद्धदेह दोनों ही हैं। सृष्टि के अतीत गुरुओं की बात यहाँ नहीं कही जा रही है—वे मायादेहवर्जित एवं शुद्ध वैन्दव देहसम्पन्न हैं।

पूर्वोक्त विवरण से तत्त्वभेदपूर्वक ऊर्ध्वगति के बारे में कहा गया। इसे यहाँ जरा स्पष्ट करके न कहने पर किसी को बोधगम्य नहीं होगा। इसलिए संक्षेप में दो-एक बातें बता रहा हूँ। सृष्टि की, मूल उपादानस्वरूप एक वस्तु रहती है। फिलहाल इसकी जड़ के रूप में गणना की जा सकती है। उसका एक ओर (भीतर वाला) शुद्ध तथा दूसरी ओर (बाहर वाला) अशुद्ध है। जब तक सृष्टि का उदय नहीं होता तब तक यह भीतर-बाहर का विभाग समझ में नहीं आता। यहाँ तक कि यह अचित्स्वरूप मूल उपादान भी है, यह भी ज्ञात नहीं होता, किन्तु जब सृष्टि के परमेश्वर की दृष्टि शुद्धांश पर पड़ती है तब वह ज्योति के रूप में उज्ज्वल होकर प्रकाशित होती है, शुद्ध के बाहर जो अशुद्ध अंश है, वह छाया या अन्धकार रूप में उस ज्योति-स्वरूप को घेरे रहता है। यह शुद्धांश या ज्योति महामाया है और बाहर की छाया माया। सूक्ष्म रूप से देखने पर देखा जा सकता है कि इन दोनों में एक अचित्-सत्ता है। यह क्षुब्ध होकर विभिन्न स्तरों में, तत्त्व रूप में प्रकट होती है, यह सब तत्त्व चित् के मूल विभाग नहीं है। अचित् के मूल विभाग में पाँच कलाएँ हैं। इनमें शुद्धांश में दो और अशुद्ध में तीन कलाएँ स्थित हैं। प्रत्येक कला अवान्तर रूप से तत्त्व-रूप में अभिव्यक्त होती है। तदनुसार ज्योतिर्मय राज्य में पाँच तत्त्व एवं माया या छाया राज्य में इकतीस तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। पाँचों कलाएँ एक के बाद एक करके अधिकतर बहिर्मुख हैं। जहाँ बहिर्मुख की पराकाष्ठा है, उसका नाम पृथिवी है। उसी के अनुसार जहाँ अन्तर्मुख की चरम सीमा है, उसका नाम शिव या महामाया है। वास्तव में ये कुण्डलिनी स्वरूप हैं। ये शिव-शिव नाम परिचित होने पर भी वास्तव में विशुद्ध जड़वस्तु हैं। इसी का नाम आदितत्त्व या बिन्दु है। तत्त्वातीत शिव या परमेश्वर इससे पृथक् हैं।

इन तत्त्वों को विभिन्न स्तरों में सजाया गया है। विश्व में सर्वत्र यह क्रम-विन्यास दिखाई देता है। प्रत्येक तत्त्व से कुछ भुवनों का आविर्भाव होता है। तत्त्व की भाँति भुवनों के समूह गुण, क्रिया, शक्ति आदि के विकास के तारतम्य के अनुसार अधः-ऊर्ध्व रूप में परस्पर शृंखलाबद्ध हैं। ऊर्ध्व प्रदेश से सर्वापेक्षा निम्नतम प्रदेश तक सब भुवनों की समष्टि जीवों के निकट विश्व के नाम से परिचित हैं। जीव अपने-अपने अधिकार और योग्यता के अनुसार प्रत्येक स्तर में

विद्यमान हैं। जीव सृष्टि के प्रारम्भ में अर्थात् विश्व में स्थिति के समय देहयुक्त होकर ही रहता है, किन्तु प्रलय अवस्था में जीव का देह नहीं रहता। उस वक्त जीव माया में साक्षात् या परम्परा रूप में लीन होकर सुषुप्त की भाँति रहता है अथवा किसी कौशल से माया भेद हो गया हो तो महामाया में सुषुप्त की भाँति लीन रहता है। माया के भीतर जो इकतीस तत्त्व हैं, उनमें प्रत्येक का आश्रय लेकर जीव है और रह सकता है। इन सभी तत्त्वों में जन्य-जनक भाव अथवा अधः-ऊर्ध्व विभाग हैं, यह पहले बताया गया है। तदनुसार तत्त्ववर्त्ती जीवों के श्रेणी विभाग होते हैं, किन्तु ये श्रेणी विभाग तत्त्वों के आपेक्षिक उत्कर्ष के कारण हैं। उससे जीव के स्वकीय उत्कर्ष का परिचय नहीं मिलता। प्रलय जड़ की क्रियासापेक्ष है, वह जीव की साधना के अधीन नही है। जब उपादान में बहिर्मुख प्रेरणा आती है तब सृष्टि की ओर प्रवृत्ति होती है। जब उपादान में संकोच भाव आता है तब वह प्रवृत्ति निवृत्त होकर केन्द्र को आकर्षित करती रहती है एवं चरम अवस्था में मूल उपादान रूप में केन्द्र में स्थित होती है।

अभिव्यक्ति के नियमानुसार जो जीव इस मूल उपादान को अतिक्रम कर महामाया में अवस्थान करते हैं, उनमें मलपाक के तारतम्य से कोई-कोई नवीन सृष्टि में देवरूप में आविर्भूत होते हैं। इनका देह वैन्दव होता है। अवतरण के प्रारम्भ में एक प्रकार से देवभाव का आविर्भाव होता है। वे स्वभावतः मायातीत हैं। इसीलिए वे शुद्ध होने पर भी क्रम-विकास के नियमों के अधीन नहीं हैं। वे एक प्रकार से अव्यक्त भावापन्न हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही माया के अतीत की भूमि हैं।

ठीक इसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं। इनका रहस्य समझ लेने पर शास्त्रों में वर्णित आजान देवता, कर्मदेवता आदि विभिन्न प्रकार के देवताओं के तत्त्व समझ में आ जायेंगे।

●

परिशिष्ट

अध्यात्म जीवन में गुरु का स्थान

वर्तमान समय में शिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित समुदाय में अधिकांश लोगों के मुँह से एक प्रश्न सुनाई देता है। वह प्रश्न है गुरु की आवश्यकता के सम्बन्ध में। इनमें से अधिकांश लोगों का विचार है कि मनुष्य को जीवन के पथ पर स्वावलम्बी होकर चलना चाहिए, उसे शक्ति और भाव के विकास के लिए किसी दूसरे का आश्रय अपेक्षित नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के पथ पर भी मनुष्य का सम्बन्ध साक्षात् भगवान् के साथ अथवा भगवत्-शक्ति के साथ है। इन दोनों के बीच गुरु नामक किसी व्यक्ति के लिए स्थान कहाँ? इस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से गुरु की आवश्यकता है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। ये लोग गुरु के सम्बन्ध में संशयवादी हैं।

अध्यात्म-क्षेत्र में गुरु की आवश्यकता है अथवा नहीं, इसकी आलोचना करने के पूर्व साधारणतया विचार करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जीवन-पथ पर पहले पहल एक ऐसी अवस्था वर्तमान रहती है जब जीव, शक्ति, ज्ञान, भाव प्रभृति सभी विषयों में परमुखापेक्षी रहने को बाध्य होना पड़ता है। ऐसा ही प्रकृति का नियम है। इसके बाद भीतर से शक्ति और बुद्धिवृत्ति के विकास के साथ बाहरी सहायता उतनी अपेक्षित नहीं रहती। बाहरी सहायता की आवश्यकता न रहने पर भी भीतर किसी अचिन्त्य शक्ति की अधीनता तब भी उसे रहती है। इसके बाद जीवन-पथ पर पूर्ण और चरम स्थिति प्राप्त होने पर स्वाधीनता का विकास होता है एवं अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती। स्वभाव से ही जो होना होता है, वह निरपेक्ष भाव से हो जाता है।

साधारण शिक्षा-मार्ग में भी जब प्रारम्भिक अवस्था में मार्ग-दर्शक के हिसाब से दूसरों का मुखापेक्षी होना पड़ता है—गोकि सभी के बारे में नहीं कह रहा हूँ, जो स्वयंभू स्वयं-उद्भूत ज्ञानसम्पन्न हैं, उनके बारे में कह रहा हूँ—तब अध्यात्म-जीवन के अत्यन्त गहन और दुर्गम पथ पर प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य शक्ति के आश्रय के बिना अग्रसर होना सम्भव नहीं है—इस पर भला कोई संदेह रह सकता है? इस विषय पर विशेष आलोचना करने के पूर्व गुरुतत्त्व क्या है, गुरु का वास्तविक कार्य क्या है, गुरु कितने प्रकार के होते हैं, गुरु के साथ शिष्य का तथा शिष्य के साथ गुरु का वास्तविक सम्बन्ध क्या है, गुरु-शिष्य भाव की चरम

परिणति कहाँ होती है—इत्यादि सभी विषयों की आवश्यकता के अनुरूप आलोचना करनी होगी। आलोचना से एक प्रकरण के साथ अन्य प्रकरण के किसी-किसी विषय में सहायता मिल सकती है, क्योंकि अवान्तर सभी कारण परस्पर सम्बद्ध हैं, किन्तु समझने के समय प्रत्येक को पृथक् रूप में विवेचना कर धारणा करना होगा।

हम लोग साधारण तौर पर कहते हैं कि गुरु ज्ञानदाता हैं। ज्ञानदाता के अलावा अन्यरूप में हम साधारणतया गुरु की कल्पना नहीं करते, किन्तु वस्तुतः गुरु ज्ञानदाता अवश्य हैं—परोक्ष और अपरोक्ष सभी ज्ञान गुरु से ही उद्भूत होते हैं। इसके अलावा, गुरु कर्मदाता और भक्तिरस के भी दाता हैं। इसे हम क्रमशः समझ सकेंगे। गुरु और सद्गुरु दो ही शब्द साधन-जगत् में प्रचलित हैं। साधारण दृष्टि से गुरु और सद्गुरु दोनों ही अभिन्न हैं—अर्थात् गुरु कहने से सद्गुरु ही समझना चाहिए। क्योंकि पूर्ण आदर्श की दृष्टि से असद्गुरु नामक कोई पदार्थ नहीं है, तथापि व्यवहार के सौकर्य की दृष्टि से सद्गुरु शब्द की एक सार्थकता है। पूर्ण सत्य ही यदि सत्य का अखण्ड स्वरूप है तो ऐसी स्थिति में जिनके अनुग्रह से इस अखण्ड सत्य का स्वरूप प्रकाशित होता है, वे ही वास्तव में सद्गुरु हैं; सत्य का खण्डरूप अखण्ड सत्य से वास्तव में पृथक् न होने पर भी बुद्धि की दृष्टि से किंचित् पार्थक्य-विशिष्ट समझना ही पड़ता है। जो इस खण्ड सत्य के उपदेष्टा हैं, वे खण्डज्ञान के प्रदाता हैं—वे ही हैं—खण्ड गुरु। गुरु शब्द खण्ड और अखण्ड दोनों के प्रकाशक को समझा देता है। अखण्ड सत्य का प्रकाशक का स्पष्ट रूप से यदि निर्देश करना हो तो सद्गुरु या इस तरह के किसी अन्य शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। केवल गुरु शब्द से खण्ड सत्य का उपदेष्टा समझ में आता है। खण्ड सत्य का व्याप्य-व्यापक दृष्टि से एक क्रम है, अर्थात् खण्ड सत्य में कोई निम्नस्तर का, कोई ऊर्ध्वस्तर का एवं कोई और भी अधिक ऊर्ध्वस्तर का, इस प्रकार के विभिन्न स्तर विद्यमान रहते हैं। तदनुसार मूल में गुरुतत्त्व एक होने पर भी गुरुवर्ग में श्रेणी विभाग सम्भव है। यह श्रेणी विभाग गुरु के उपदेश के क्षेत्र में निम्न-उच्च विभाग के रूप में प्रतिष्ठित है एवं यह गुरु की ज्ञान वितरण शक्ति के तारतम्य से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि ज्ञान स्वरूपतः एक होने पर भी उपाधि के सम्बन्ध के कारण नाना रूप में प्रतीत होता है।

समग्र संसार माया से उद्भूत है। मलिन संसार अशुद्ध माया संजात एवं शुद्ध जगत्—जो संसार न होकर भी संसार रूप में परिगणित हैं—शुद्ध माया से आविर्भूत है। मलिन संसार के मूल में अविद्या है और उसका स्वाभाविक गुण आसक्ति है। शुद्ध-जगत् के मूल है विद्या और उसी के साथ अभिन्न रूप से शक्ति और आनन्द भी संश्लिष्ट है। माया और महामाया के राज्य के अतीत

विशुद्ध आत्मस्वरूप हैं। यह स्मरण रखना होगा कि वह विशुद्ध आत्मस्वरूप विश्व का अतीत होकर भी विश्व की प्रत्येक वस्तु से अभिन्न है। यही पूर्ण सत्य है। इसी का कल्पित खण्डरूप सुख-दुःख के रूप में अज्ञानमय जगत् तथा आनन्द और शक्ति की लीला के रूप में शुद्ध जगत् में अपने को व्यक्त करता है। आत्मा के पूर्ण स्वरूप की उपलब्धि यदि करनी हो तो एक पक्ष में विश्व का, केवल मलिन-जगत् नहीं, शुद्ध जगत् का भी, अतिक्रम कर आत्मा के केवल स्वरूप में पहुँचना चाहिए। उसके बाद पूर्ण शक्ति के विकास के पथ पर आत्मा के शिवमय महेश्वर-रूप का साक्षात्कार करना चाहिए। उस वक्त आत्मा और आत्मशक्ति का अद्वय तत्त्व अर्थात् अभिन्नता और एकरसता स्वाभाविक रूप से अपने आप निखर जाता है।

गुरु का प्राथमिक कृत्य है, शिष्यरूपी जीव के दुःख निवृत्ति की व्यवस्था करना। मायिक जगत् में भेदज्ञान के अधीन होकर कर्म-संस्कार-सम्पन्न कर्तृत्वाभिमान से पुष्ट जीव अनादिकाल से कर्म करता हुआ और साथ-साथ कृत कर्मों का फल भोगता हुआ आ रहा है। जन्मजन्मान्तरों से संसार की यह धारा बहती चली आ रही है। भेदज्ञान और कर्तृत्वाभिमान जब तक नष्ट नहीं होते तब तक इस संसार की लीला का अन्त नहीं होता एवं जन्म-मृत्यु और कालचक्र के आवर्त्तन की निवृत्ति नहीं होती। जीव चिदात्मक है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु माया के प्रभाव से वह जड़ सत्ता को अपनी चित्सत्ता मानकर भीषण भूल करता आ रहा है। इस भूल के कारण ही कर्मक्षेत्र में पतन और अनुरूप भोग अवश्य प्राप्त होते हैं। ऊर्ध्व में देवलोक से नीचे तिर्यक और स्थावर सीमा तक असंख्य प्रकार के जीव हैं। सभी इस दुःखमय संसार के आवागमन में चक्कर खा रहे हैं। सामयिक ऊर्ध्वगति या अधोगति प्रकृत पथ की कोई सूचना नहीं देती। चेतन आत्मा जब तक अपने को जड़ से पृथक् समझकर पहचान नहीं सकेगा तब तक इस दुःखमय कालचक्र से उसके उद्धार की कोई आशा नहीं है। जो अनुग्रहपूर्वक ज्ञान प्रदान कर इस अज्ञान से उसे छुटकारा दिलाते हैं अथवा मुक्त होने में सहायता करते हैं, वे गुरु हैं। इस ज्ञान को विवेक ज्ञान कहते हैं। जड़ सत्ता विभिन्न स्तर के हैं। इसलिए विवेक ज्ञान में भी तारतम्य है। जो विशुद्धतम विवेक-ज्ञान है, उसके कारण आत्मा निर्मल-स्वरूप में प्रतिष्ठा होती है। इसी को कैवल्य अथवा मुक्ति कहा जाता है। कोई-कोई इसे निर्वाण भी कहते हैं।

किन्तु वास्तव में अध्यात्मजीवन का यह पूर्ण आदर्श नहीं है। क्योंकि आत्मा मायिक दुःख से निवृत्त होने पर भी पूर्णता प्राप्त नहीं करती। आत्मा ही एक स्वरूपभूत आनन्द का प्रकाश है। जब तक वह निरपेक्षता या स्वातंत्र्य को वापस प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसका संकोच हुआ कहाँ? आत्मा ही तो परमात्मा

या महेश्वर है। आत्मा के कैवल्य या मुक्तिलाभ करने पर भी उसे महेश्वरत्व प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए उसकी अन्तर्निहित अनन्त शक्ति का पूर्णतम जागरण आवश्यक है। उस शक्ति के जागरित हुए बिना आत्मा शुद्ध होने पर भी शवमात्र है; शिव नहीं। क्योंकि शिव कभी भी शक्तिविहीन नहीं होते। वस्तुतः शिव और शक्ति अभिन्न हैं, तथापि यह सत्य है कि शिव के व्यक्त और अव्यक्त भाव में पार्थक्य नहीं है। एक हिसाब से शिव महाप्रकाशात्मक होने से नित्य व्यक्त हैं। शक्ति जब तक अव्यक्त से व्यक्त भाव धारण नहीं करती एवं व्यक्त भाव धारण का क्रम पकड़कर अथवा बिना क्रम के जब तक पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं होती तब तक शक्ति के साथ अभिन्न होकर भी उनके साथ एकासन पर बैठ नहीं सकती, एकता-प्राप्ति तो दूर की बात रही, किन्तु अध्यात्मजीवन का जब पूर्ण विकास हो जाता है तब उनके साथ एकताप्राप्ति भी अवश्य हो जाती है। उस समय शिव और शक्ति में जीव और शिव में भी पार्थक्य नहीं रहता। ये तीन उस समय एक ही अभिन्न अखण्ड आत्मस्वरूप में आत्मप्रकाश करते हैं। इस परिस्थिति में प्रतिष्ठित होने में जो सहायता देते हैं, वे ही सद्गुरु हैं। वास्तव में आत्मा ही सद्गुरु है। वे ही सद्गुरु के रूप में मायान्ध जीव को माया से मुक्त कर उसके भीतर स्थित शक्ति को भलीभाँति प्रबुद्ध करते हुए निजस्वरूप में अर्थात् शिव-रूप में ले आते हैं। यही संकोचरहित पूर्ण स्वातन्त्र्य है।

जो स्वयं अन्धा है वह जैसे दूसरे को पद दिखा नहीं सकता और अगर दिखाने गया तो दोनों ही आफत में फँस जायँगे, उसी प्रकार जो स्वयं अज्ञानी है, उसे स्वयं ही अपने मार्ग की पहचान नहीं है, क्योंकि उसकी पथयात्रा का अवसान नहीं हुआ है—वह दूसरों को मार्ग कैसे दिखायेगा? इसलिए स्वयं अपने सम्यक् ज्ञान अपरोक्षरूप से प्राप्त कर तदनन्तर गुरु के रूप में दूसरे को उस ज्ञान का उपदेश दिया जाता है, किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि परोक्ष ज्ञान तो दूर की बात है, अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने पर भी क्या वह दूसरे को दिया जा सकता है? इसका उत्तर है—नहीं दिया जा सकता। ज्ञान के सहकारी रूप में दो शक्तियों की आवश्यकता है—एक इच्छा और दूसरी क्रिया। दूसरे का दुःख दूर करने की जो इच्छा है, उसे कृपा या करुणा कहते हैं। जो ज्ञानी होकर भी इस प्रकार की इच्छा से रहित अर्थात् कृपाहीन हैं, वे दूसरों को उसका दुःख निवृत्त करने के लिए ज्ञानोपदेश देने को क्यों प्रवृत्त होंगे? करुणा ही एकमात्र प्रवर्त्तक है। इच्छाहीन में करुणा कहाँ? किन्तु केवल इच्छा रहने पर ही कार्यसिद्धि नहीं होती, यदि उस इच्छा को सफल बनाने का सामर्थ्य न हो। केवल इच्छा, इच्छाशक्ति नहीं है। इच्छा अप्रतिहत होने पर वह क्रियारूप में स्थूल आकार धारण करती है। उस समय इच्छा होती है अमोघ, अर्थात् अव्यर्थ। अतएव

ठीक-ठीक गुरु रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इच्छा और क्रिया का भी योग रहना चाहिए। यही सद्गुरु अथवा आप्त पुरुष के लक्षण हैं। इस अवस्था में गुरु की इच्छा के साथ ही शिष्य के हृदय में ज्ञान का स्रोत बह उठता है एवं उनकी क्रियाशक्ति के प्रभाव से शिष्य के जीवन-पथ या साधन-मार्ग के सभी अन्तराय दूर हो जाते हैं। शास्त्रकारों ने इस प्रकार के महापुरुष को आप्त पुरुष कहा है। इस आदर्श का ही पूर्णरूप सद्गुरु है।

गुरुतत्त्व की आलोचना करनी हो तो आनुषंगिक रूप में उसके साथ इष्ट तत्त्व और साधक के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक होगा। साधक का मतलब यहाँ योगी और अयोगी दोनों प्रकार के साधकों से है। मनुष्य अनादिकाल से संसार में आकर कालचक्र में घूम रहा है। बहिर्मुख चित्त अपने-अपने कर्म-संस्कार के अनुसार बाह्यजगत् में सुख की खोज कर बार-बार विफल-मनोरथ होकर भी विरत नहीं हो रहा है। जन्म के बाद मृत्यु एवं मृत्यु के बाद पुनः जन्म, इस तरह जन्म-मृत्यु के चक्र में विषय सुख की खोज में चित्त निरन्तर दौड़ रहा है। यही प्रवृत्ति का स्रोत है। जब तक इस स्रोत का वेग मन्द नहीं हो जाता तब तक इसके प्रवाह में बह जाना होगा, किन्तु पुनः-पुनः भोग करते-करते एक ऐसा समय आता है जब फिर भोग का सामर्थ्य तो रहता ही नहीं, स्पृहा भी नहीं रहती। यह केवल बुढ़ापा अथवा व्याधि के कारण नहीं होता, बल्कि प्रवृत्ति के नियम से भोग की मात्रा पूर्ण होते ही स्वभावतः अन्तर्मुखी गति का सूत्रपात हो जाता है। यह गति निवृत्ति मार्ग की गति है। अनेक जन्मों के भोग-विलास के बाद इस निवृत्ति मार्ग की सूचना मनुष्य-मात्र के जीवन में प्रकट होता है। जब मनुष्य विषयों के अन्वेषण से थककर सुख और समृद्धि की आशा को तिलांजलि देने को तैयार होता है तब एकमात्र निवृत्ति के सिवा और कोई मार्ग उसके सामने खुला नहीं रहता। मनुष्य तब यह समझ नहीं पाता कि कितना दूर अग्रसर हो गया है एवं कब उसके लौटने का समय आयेगा, किन्तु जो प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्यामी के रूप में, उसके हृदय में नित्य विहार कर रहे हैं, वे सब कुछ समझते हैं। मनुष्य के प्रत्यावर्त्तन के मोड़ पर पहुँचने पर उसके जीवन में कई एक अभिनव धर्म की अभिव्यक्ति देखने में आती है। ये धर्म उसके बहिर्जीवन में प्रकट हो सकते हैं एवं किसी-किसी क्षेत्र में नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु अन्तर्जीवन में इन धर्मों अथवा लक्षणों का प्रकाश अवश्यम्भावी है। जो अन्तर्यामी एवं सद्गुरु हैं, वे उसे देख पाते हैं एवं साथ ही साथ उनकी सहायता करने के लिए हाथ बढ़ाते हैं। किसी प्रकार का देह धारण कर गुरु मनुष्य के निकट इस संधिकाल में आविर्भूत होते हैं एवं क्लान्त और निराशमग्न, माया के अन्धकार से विडम्बित मनुष्य के निकट सुशीतल शान्ति और आनन्द की महनीय वार्ता की

घोषणा करते हैं। आनन्द से वंचित हताश मनुष्य को नित्य आनन्दपथ दिखाना गुरु का कार्य है। गुरु शरणागत तापक्लिष्ट जीव को अभयदान देते हुए इष्ट-प्राप्ति का उपाय बताते हैं। इष्ट का मतलब संसार के समस्त दुःखों से निवृत्ति समझनी चाहिए। वास्तव में निर्मल अपरिच्छिन्न आनन्द ही मनुष्य का इष्ट है। क्योंकि यही हर एक चाहता है। दुःख निवृत्ति इसका आनुषंगिक-मात्र है। जानते हुए हो या अनजाने में हो, आनन्द ही जीव का काम्य है। यही उसकी सभी अभिलाषाओं और इच्छाओं का एकमात्र विषय है। गुरु जिस उपाय का निर्देश देते हैं, उनका आश्रित शिष्य उसी उपाय का आलम्बन कर इष्ट-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है। यह उपाय मंत्ररूप देवता की आराधना है, इसमें सन्देह नहीं, एवं यही आराधना अंगरूप में कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि सभी का स्थान है। साधक साधना के मार्ग में चलते-चलते क्रमशः आराधना में परिपक्वता-लाभ करता एवं दिव्य ज्योतिर्मय शक्तिरूप में अपने आराध्य देवता का साक्षात्कार करते हैं। वास्तव में यह आराध्य देवता साधक के अपने आत्मस्वरूप से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है। उसका अपना स्वरूपभूत आनन्द कर्म के प्रभाव से घनीभूत होकर अपनी इन्द्रियों और मन का आकर्षण करनेवाले दिव्य आकार को धारण कर अपनी सत्ता से अपृथक् रहते हुए भी पृथक्भूत रूप से दृष्टि के सामने दिखाई देता है। इसी का नाम है इष्ट देवता का साक्षात्कार। यह दूसरे किसी पदार्थ का दर्शन नहीं, बल्कि अपने अन्तर्निहित शक्ति का जागरण तथा द्रष्टा के सामने उस जाग्रत् शक्ति का प्रकाश है।

जननी के गर्भ में जैसे बीजरूप में सन्तान निहित रहता है एवं क्रमशः पुष्ट होकर अंग-प्रत्यंगों की पुष्टता के साथ पूर्णता प्राप्त करती है—इसके बाद प्रसव-क्रिया द्वारा भीतर से बाहर निकलती है एवं इन्द्रियगोचररूप में प्रकट होती है, ठीक इसी रूप में गुरुदत्त बीजमंत्र साधक के हृदय-क्षेत्र में दीक्षादि के सिलसिले से स्थापित होने और शिष्य द्वारा यथाविधि शिष्य द्वारा उसका परिकर्म या सेवा करने पर वह बीज अंकुरित होता है और आकार धारण करता है। बाद में वह साकार आनन्दमय सत्ता इष्ट देवतारूप में दृष्टि के सामने बाहर निकलती है। यही प्रसव के अनरूप व्यापार है। यही इष्ट साधना का फल है। इस प्रकार इष्ट देवता का आविर्भाव और साक्षात्कार सिद्ध होने पर साधक असीम आनन्द में मग्न हो जाता है। उस वक्त उसकी सभी इन्द्रियों का तृप्तिकारक रूप, वह इष्ट देवता उसके सामने आकर खड़े हो जाते हैं। तब साधक के पूर्वानुभूत सभी दुःख कट जाते हैं एवं अपार आनन्द की अनुभूति होती है। शक्ति के जागरण के कारण साधक ऐश्वर्यसम्पन्न होता है, जिसकी वजह से उसके सभी अभाव सदा के लिए मिट जाते हैं। इष्ट का साक्षात्कार न होने तक मंत्रदाता गुरु का गुरुत्व अटूट रहता है।

किन्तु इष्ट का प्रदर्शन करना ही गुरु का मुख्य कार्य नहीं है, यह स्मरण रखना चाहिए। गुरु ने जिस रूप में पहले दर्शन दिया था एवं इष्ट साधना के उपायों का निर्देश दिया था, वह गुरु का परमस्वरूप नहीं था। मानवदेह, सिद्धदेह अथवा दिव्यदेह का आश्रय कर गुरु ने इष्ट दर्शन के लिए अपने को प्रकट किया था। इसके बाद इष्ट दर्शन के साथ-साथ गुरु का वह छद्मरूप तिरोहित हो जाता है एवं साधक का रूप भी तब पूर्ववत् बलहीन नहीं रहता। इसके पश्चात् इष्ट अर्थात् आनन्द एवं साधक अर्थात् चित्कणयुक्त होकर अति दुर्गम पथ पर अग्रसर होते रहते हैं। यह पथ गुरु के स्वरूप दर्शन का मार्ग है।

गुरु स्वरूपतः निराकार चैतन्यमय हैं। साधक आकृति-सम्पन्न एवं प्राकृत या अप्राकृत देह विशिष्ट है, किन्तु इष्ट आनन्दमय, अजर-अमर तनु विशिष्ट हैं। इसलिए दोनों ही साकार हैं, इसमें सन्देह नहीं। निराकार चैतन्य साकार साधक के लिए अगोचर एवं साकार इष्ट के लिए अप्राप्य है। किन्तु इष्ट के साथ-साथ साधक का योग होने पर निराकार चैतन्य स्वरूप की ओर अग्रसर होना सम्भव है। यह साधक और इष्ट की सम्मिलित गति है। इस गति के अवसान पर साधक और इष्ट एक होकर निराकार चैतन्य स्वरूप से मानो एकाकार हो जाते हैं। उस वक्त अहं नहीं रहता, इसलिए साधक नहीं रहता, इष्ट नहीं रहता और साध्य भी नहीं रहता। दोनों एक होकर निराकारत्व सम्पादनपूर्वक निराकार चैतन्य के साथ अभेद प्राप्त करते हैं। इसी का नाम गुरु-साक्षात्कार है। गुरु-साक्षात्कार सिद्ध होने पर उस वक्त गुरु अपना आत्मस्वरूप दिखा देते हैं। साधक की जो आत्मा है, इष्ट की भी वही आत्मा है एवं गुरु की आत्मा उससे अलग नहीं है। ऐसी अवस्था में जिस स्थिति का उदय होता है, वह नाद और ज्योति दोनों से परे है। यह साकार नहीं है, इसलिए प्रकृति के अतीत है। यह निराकार नहीं है, इसीलिए यह गुरु के अतीत है। यह साकार और निराकाररूप द्वन्द्व के अतीत विशुद्ध आत्मस्वरूप है। इस आत्मदर्शन के सिद्ध हो जाने पर गुरु, इष्ट और साधक की आत्मा अभिन्न, अद्वय, अखण्ड स्वरूप से स्वयं प्रकाशरूप में अपने को प्रकट करता है। उस समय सब कुछ रहता है अथच कुछ भी नहीं रहता। अखण्ड महाप्रकाश में अपने को पुनः पाया जा सकता है एवं गुरु को भी वापस पाया जा सकता है जबकि उस अवस्था में एक में ही नानात्व का प्रतिभास प्रकट होकर एकरूप हो उठता है।

पहले गुरु स्वतः प्रवृत्त होकर दर्शन देते हैं अर्थात् जीव को दर्शन देकर उसे शिष्य बनाते हैं एवं साधना-मार्ग पर चलाते हैं। साधक साध्य-लाभ कर जब सिद्ध हो जाता है तब इस परम उपकारक गुरु को खोज निकालता है। इसमें एक पक्ष में

जैसे साधक की कार्यसिद्धि होती है, वैसे ही दूसरे पक्ष में इष्ट का कल्याण होता है। क्योंकि आराधक या साधक आश्रय न कर आनन्दमय देवता पूर्ण स्वरूप में स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते। बाद में साधक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर इष्ट देवता के साथ अभिन्न होकर निर्गुण और निराकार गुरुतत्त्व में एकत्व लाभ करता है। इस प्रकार गुरुतत्त्व तक अधिकृत होने पर स्वयं प्रकाश आत्मा अपने आप निखर उठता है। यह एक ओर साकार और सगुण है और दूसरी ओर निराकार और निर्गुण दोनों ही है। जबकि उभयात्मक होने पर भी उभय के अतीत है। यही अखण्ड स्वरूप का प्रकाश ही गुरु की वास्तविक महिमा है। यही विशुद्ध चैतन्य है। आनन्द प्रकाश गुरु-कृपा का गौण लक्ष्य है, चैतन्यरूप में आत्मप्रकाश ही उसका प्रधान लक्ष्य है।

●

दीक्षा और उसका फल

दीक्षा के बारे में पण्डित-समाज में नाना प्रकार की धारणाएँ हैं। इन धारणाओं के मूल में कितना सत्य है, इस बारे में आलोचना करके देखना आवश्यक है। किसी का कहना है कि दीक्षा के बिना जीव का पशुत्व निवृत्त नहीं होता और न परामुक्ति सिद्ध होता है। कारण, शास्त्र में लिखा है—"दीक्षैव मोचयत्यूर्द्धं शैवं धाम नयत्यपि।" दूसरी ओर किसी-किसी का मत है कि दीक्षा की आवश्यकता बिलकुल स्वीकृत नहीं है। ऐसे मौके पर दीक्षा शब्द का पारिभाषिक अर्थ के तारतम्य के कारण इस प्रकार के सिद्धान्तगत भेद देखने में आते हैं। कारण, शास्त्रों में किसी स्थान पर दीक्षा शब्द में शक्तिपात, अर्थात् भगवत्-अनुग्रह समझाया गया है एवं अन्य किसी-किसी स्थान पर भगवत्-अनुग्रह के लिए क्रिया-विशेष को दीक्षारूप में वर्णन किया गया है। वास्तव में इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। कारण मूल में शक्तिपात न होने पर बाह्य क्रिया विशेष के द्वारा मूल अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता। अद्वैत आगम शास्त्रानुसार अज्ञान पौरुष और बौद्ध, यही दो प्रकार के हैं। इसी प्रकार ज्ञान भी पौरुष और बौद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। पौरुष अज्ञान ही मूल अज्ञान है अर्थात् जब पूर्ण अखण्ड सत्ता लीला के कारग स्वयं अखण्ड रहते हुए खण्डितवत् होती है यानी अपनी पूर्ण शक्ति को संकुचित करके स्वयं को जीवरूप में प्रकट करती है, तब इसी जीव का स्वरूप ज्ञान अर्थात् वह तो परमेश्वर के साथ अभिन्न है, वह ज्ञान तिरोहित हो जाता है। जिस अज्ञान के कारण आत्मविस्मृति होती है, वही पौरुष अज्ञान अर्थात् श्री भगवान् स्वेच्छा से स्वयं सर्वज्ञ और स्वरूपज्ञ होते हुए भी अनेक होने के लिए जिस अज्ञान के द्वारा अपने को आवृत्त करते हैं, उसी को पौरुष अज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। यह भगवान् की निग्रह-शक्ति अथवा तिरोधान-शक्ति है जिसके द्वारा वे अपने को स्वयं आच्छन्न कर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। इस अज्ञान की निवृत्ति योग, तपस्या, साधना, उपासना आदि उपायों के द्वारा सम्भव नहीं होता। यह तभी निवृत्त हो सकता है जब परमेश्वर स्वयं अपना आवरण हटा देते हैं। हटाने की इस क्रिया को उनकी अनुग्रह-शक्ति क्रिया कहा जाता है। जो शिव होकर भी पशु बन जाते हैं, वे ही पुनः स्वेच्छा से पशुभाव परिहार कर अपने शिवमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। दोनों ही उनके स्वातन्त्र्य की लीला हैं। प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि तब क्या साधना की कोई उपयोगिता नहीं है? इसका

उत्तर यों है—उपयोगिता है एवं उसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है। साधना की उपयोगिता उक्त आवरण की निवृत्ति में नहीं है, किन्तु बुद्धि में मूल अज्ञान के प्रतिबिम्ब स्वरूप में जो अज्ञान भासमान होता है, उसी अज्ञान की निवृत्ति में है। इस अज्ञान को बौद्ध अज्ञान कहा जाता है। मूल पौरुष अज्ञान के न रहने पर बौद्ध अज्ञान हो नहीं सकता। यानि आकाश में चन्द्र का उदय न हो तो सरोवर के स्वच्छ जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब कहाँ से आयेगा? पौरुष अज्ञान जागतिक दृष्टि से अनादिकाल सें है। बुद्धि प्रकृति का विकार है। अतएव देह-ग्रहण के समय जब बुद्धि अभिव्यक्त होती है तब उसमें उक्त अनादि काल का मूल अज्ञान भी साथ-साथ प्रतिबिम्बित होता है। यही ख्रीष्टिय साधकों का 'ओरिजनल सीन' आदि कल्पंना का मूल रहस्य है। जीव की ओर से देखने पर यह अज्ञान भी मूल जैसा प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में यह मूल नहीं है और बौद्ध-अज्ञान द्वारा सहज ही उन्मूलित होने योग्य है। योग, तपस्या, उपासना, व्रतचर्या, तीर्थसेवा आदि सभी जीव की आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हैं—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु पौरुष अज्ञान-निवृत्ति इन सभी उपायों पर निर्भर नहीं है। मनुष्यमात्र स्वरूपतः परमात्मा से अभिन्न होने पर भी परमात्मा अभिन्न स्वातन्त्र्यवश उससे किंचित् भिन्न रूप में कल्पित हैं। कोई-कोई इस भिन्नता को उपलक्ष्य कर परमात्मा और जीवात्मा की अंशों में कल्पना करते हैं। बहरहाल दीक्षा के अलावा किसी भी उपाय से उक्त पौरुष अज्ञान की निवृत्ति सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि स्वच्छ बुद्धि से आविर्भूत निर्मल महाज्ञान से भी उक्त अज्ञान का नाश नहीं होता। बौद्ध अज्ञान बौद्ध ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है। किन्तु उसके पहले भगवत्-शक्ति के प्रभाव से दीक्षादि के द्वारा पौरुष अज्ञान निवृत्त होना आवश्यक है। ऐसा होने पर उक्त बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ जीवन्मुक्ति का उदय हो सकता है। किन्तु यदि विशेष कारण से, अर्थात् उपयुक्त साधनादि उपाय या अनुष्ठान के अभाव में किसी के लिए बौद्ध ज्ञान का आविर्भाव न हो, अथच भगवत्-कृपा से सद्‌गुरुप्रदत्त दीक्षा के प्रभाव से उनका पौरुष अज्ञान निवृत्त हो गया हो तो इस प्रकार के दीक्षित पुरुष जीवन्मुक्ति-लाभ न कर सकने पर भी देहान्त के बाद पूर्णत्व अथवा अखण्ड स्वरूप के साथ तादात्म्य-लाभ अवश्य करता है। कारण, दीक्षा के प्रभाव से पौरुष अज्ञान निवृत्त होने पर बुद्धिनिष्ट अन्तराय दूर होने के साथ-साथ पौरुष ज्ञान का उदय अवश्य होगा। वर्तमान देहपात के साथ-साथ बुद्धि के सभी अन्तराय निवृत्त हो जाते हैं। कारण, प्रारब्ध कर्मों का फल भोग देह के अवस्थान तक भोगना पड़ता है, इसके बाद नहीं।

पूर्वोक्त विवरण से समझ में आ जायगा कि प्राकृत दीक्षा का महत्त्व है एवं साथ-साथ यह भी समझ में आ जायगा कि साधनादि की उपयोगिता है। दीक्षा का

यही महत्त्व है कि यह यथाविधि सद्‌गुरु के द्वारा अनुष्ठित होने पर इसके फलस्वरूप पूर्णत्व अवश्य प्राप्त करता है। कारण जितने मल मायाशक्ति के प्रभाव से अपने पूर्ण स्वरूप को ढककर रखते हैं, दीक्षा के द्वारा वे सभी मल अपसृत हो जाते हैं। एकमात्र प्रारब्ध अवशिष्ट रहता है जिसका शोधन भगवत्-इच्छा के विरुद्ध होने के कारण जीव को भोग करना पड़ता है। बौद्ध ज्ञान के प्रभाव से यहाँ तक कि 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप बौद्ध ज्ञान के उदय होने पर भी पूर्व की भाँति पूर्णत्व लाभ रूप फलप्राप्ति नहीं होती। किन्तु साधना की उपयोगिता यही है कि बुद्धिगत अन्तराय इसके द्वारा अपसरित होने पर देह के अवस्थान काल में ही पूर्णत्व की अनुभूति हो सकती है। अर्थात् दीक्षा के प्रभाव से पूर्णत्व का उदय होता है, किन्तु देहगत और बुद्धिगत मलिनता के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। साधना के प्रभाव से बौद्ध ज्ञान का उदय तथा बौद्ध अज्ञान के निवृत्त होने पर अनुभूति होने लगती है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि साधना का महत्त्व नहीं है।

दीक्षा के बाद बाहर-भीतर स्फुरण होता है, यह सत्य है। कारण पौरुष अज्ञान निवृत्त होने पर स्फुरण बिना हुए रह नहीं सकता। पौरुष अज्ञान के कारण मनुष्य अपने को परमात्मा के रूप में न देखकर अनन्त प्रकार के विभिन्न रूपों में देखता है। जब यह अज्ञान दूर हो जाता है तब भीतर यह भाव दूर हो जाता है एवं अपना स्वकीय भाव या स्व-भाव का स्फुरण होता है। किन्तु यह स्फुरण होने पर भी सभी इसका अनुभव नहीं कर पाते। अनुभव न कर पाने का कारण है—बुद्धि की जड़ता एवं मलिनता। साधना, उपासना आदि के द्वारा चित्त शुद्धि होने पर उक्त स्फुरण का अनुभव अपने आप होने लगता है। दीक्षा के बाद साधना के द्वारा बौद्ध ज्ञान के उदय होने पर सिद्धिलाभ होता है। किन्तु जिस साधना से निरत नहीं होता अथवा जिसकी साधना सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित नहीं होती, उसका बौद्ध ज्ञान नहीं होता, इसलिए देह के रहते-रहते किसी प्रकार का अनुभव उसे नहीं होता। किन्तु साधना अथवा उत्कर्ष का अभाव दीक्षा की सार्थकता का अन्तराय नहीं है। कारण, मृत्यु के साथ-साथ दीक्षालब्ध अनावरण भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या दीक्षा वास्तव में पूर्ण अखण्ड के शक्तिपातजनित व्यापार होना आवश्यक है। कारण मूल में अखण्ड की अनुग्रह शक्ति के न रहने पर दीक्षा केवल एक बाह्य अनुष्ठान-मात्र बन जाती है। इससे यथार्थ फल उदित नहीं होता।

साधना के क्षेत्र में आत्मतृप्ति का मुख्य विश्लेषण

स्थूल में हो सूक्ष्म में हो, मनुष्य कभी-कभी अचिन्त्य कारणवश अपने में एक आकस्मिक तृप्ति-लाभ करता है। इस तृप्ति के उदय के साथ-साथ एक

अभाव बोध उसे विभिन्न कर्मों की प्रेरणा दे रहा था, वह निवृत्त हो जाता है। कोई-कोई इस तृप्ति को ही दीक्षादि अनुग्रह-व्यापार का फल समझते हैं। किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। कारण यह तृप्ति यदि केवल तृप्ति के रूप में आत्मप्रकाश करती है एवं इसके साथ एक अचिन्त्य परमतत्त्व का स्पर्श बोध न रहे तो इसका मूल्य बहुत अधिक नहीं है। आध्यात्मिक शास्त्रों में इस प्रकार की तृप्ति को 'तुष्टि' कहा गया है। यह साधना-पथ में विघ्न स्वरूप है। किन्तु यही तृप्ति यदि केवल तृप्ति न होकर वास्तविक सत्य का निदर्शन हो तो वह एक मूल्यवान सम्पद के रूप में परिगणित होने योग्य है। इसलिए अक्सर कोई तृप्ति लाभ करने पर भी वह पूर्ण सत्य का स्पर्श पा चुका है, यह नहीं कहा जा सकता। कारण, वह पाने पर भी ठीक-ठीक उसे पकड़ नहीं सकता अथवा स्पर्श न पाने पर भी पा गया हूँ, यही सोचता है। मगर प्रथम अवस्था में इस तरह के संशय की सम्भावना रहने पर भी जब वह अवस्था धीरे-धीरे परिपक्व हो जाता है तब सारा संशय दूर हो जाता है एवं वह अपने को स्वयं पहचान लेता है। इससे स्पष्ट समझ में आता है कि बिलकुल खाँटी सोना न होने तक संशय होना स्वाभाविक है। यह बात अपने लिए जितना सत्य है, उतना ही दूसरों के लिए सत्य है।

शक्ति-संचार और क्रिया-दीक्षा

पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु-शक्ति-संचार ही अर्थात् अखण्ड पूर्ण सत्ता की अनुग्रह-शक्ति का संचार ही जीव के पूर्णत्व लाभ का एकमात्र उपाय है। इस शक्ति के संचार के साथ-साथ बाह्य क्रिया-दीक्षा आवश्यक हो जाती है। दूसरी ओर किसी स्थान पर बाह्य क्रिया की आवश्यकता नहीं भी होती है। खण्ड गुरु चाहे कितना बड़ा क्यों न हो, पर वे वास्तविक गुरु नहीं हैं। कारण, यदि उनमें अखण्ड गुरु की शक्ति संचारित नहीं होती है तो वे अखण्ड गुरु के तादात्म्य को प्राप्त नहीं कर सकते और न जीव में शक्ति-संचार कर सकते हैं। कारण "स्वयम् असिद्धः कथम् अन्यान् साधयेत्" अर्थात् स्वयंसिद्ध न होने पर दूसरों को सिद्धि का मार्ग नहीं दिखा सकते। दीक्षा दो प्रकार की है। इसी के अनुसार अनुग्रह-शक्ति-संचार भी दो प्रकार के हैं। एक निरधिकरण और दूसरा साधिकरण। अर्थात् जब श्री भगवान् साक्षात् रूप से किसी पर कृपा करते हैं और दूसरे किसी मनुष्य या सिद्ध पुरुष या देवतादि की मध्यस्थता की प्रतीक्षा नहीं करते तब उनके इस अनुग्रह को निरधिकरण अनुग्रह कहा जाता है अर्थात् 'इमिडियेट एण्ड डाइरेक्ट ग्रेस'। किन्तु जब किसी-न-किसी उच्चस्तर के देह को माध्यम बनाकर अर्थात् उन देहों के सहारे कृपा-शक्ति-संचार करते हैं। तब इस अनुग्रह प्रणाली को साधिकरण अनुग्रह कहते हैं। अनुग्रह की मात्रा अत्यन्त तीव्र होने पर मध्यस्थ पुरुष

की आवश्यकता नहीं होती। तीव्रता की जब पराकाष्ठा होती है तब साक्षात् भाव से वह शक्ति पतित होती है और जीव को एक ही महाक्षण में शिवरूप में परिणत करती है। किन्तु अनुग्रह की मात्रा पूर्वापेक्षा कम होने पर वह शक्ति जीव के हृदय में अन्तर्यामी-रूप में आत्मप्रकाश करती है। उस वक्त साधक के हृदय में प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है। यह ज्ञान गुरु या शास्त्र से प्राप्त नहीं होता। यह अपने चित्त में अपने आप प्रकट होता है। यह अनौपदेशिक ज्ञान है। योगीगण इसे 'तारक ज्ञान' कहते हैं। इससे एक क्षण में अतीत, अनागत, वर्तमान, आन्तर और बाह्य समग्र पदार्थों का परिस्फुट ज्ञान उदित होता है। इसे 'हायर इनटियुशन' कहा जा सकता है। यहाँ बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु अनुग्रह की मात्रा और भी कम होने पर तदनुसार विभिन्न स्तरों के बाह्य गुरुओं की आवश्यकता होती है। इस संक्षिप्त विवरण से समझा जा सकता है कि बाह्य-दीक्षा सर्वत्र आवश्यक है, ऐसी बात नहीं है। गोकि यह सत्य है कि आधार अत्यन्त मलिन होने पर बाह्य दीक्षा की आवश्यकता होती है।

चक्षु-उन्मीलन

हमारे यहाँ प्रचलित गुरु प्रणामों में एक मन्त्र यों है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो अज्ञान-तिमिरान्ध व्यक्ति के नेत्र को ज्ञानरूपी अज्ञान-शलाका के द्वारा खोल देते हैं, वे ही गुरु हैं, उन्हें प्रणाम। अब प्रश्न यह है कि यह अज्ञानतिमिर वस्तु क्या है—उसके द्वारा अन्धा होने का क्या मतलब है और ज्ञानरूप शलाका के द्वारा उस अज्ञान तिमिर को अपसारित करने का क्या अर्थ है—कौन इसे करता है एवं इस कार्य का क्या फल है—इन सभी प्रश्नों का सदुत्तर जान लेने पर तथा उसका तात्पर्य हृदयंगम करने से गुरु-महिमा स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगी।

शास्त्र का सिद्धान्त है कि अनादिकाल से जीव अज्ञान से आच्छन्न है। जीव स्वरूपतः वास्तव में शिवस्वरूप होने पर भी वह अपने इस नित्यस्वरूप साक्षात् भाव की उपलब्धि नहीं कर पा रहा है। द्वैतवाद अथवा अद्वैतवाद दोनों पक्षों के दृष्टिकोण से जीव का यह अनादि अविद्या स्वीकृत हुआ है। क्यों यह सम्बन्ध संगठित हुआ है, इसका निर्णय करना बुद्धिजीवी मनुष्यों के लिए कठिन है। अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके भिन्न-भिन्न उत्तर प्राप्त होते हैं। सभी उत्तर भिन्न होने पर भी तत्त्व की दृष्टि से इनमें कोई विशेष पार्थक्य नहीं है, अतएव इस प्रसंग में उनकी आलोचना अनावश्यक है।

आत्मा स्वरूपत: अखण्ड चैतन्यस्वरूप है, उसमें अनन्त शक्ति अभिन्न रूप में विद्यमान है। संक्षेप में इन सभी शक्तियों को ज्ञान और क्रिया के अन्तर्गत कर लिया जा सकता है। अतएव ज्ञान और क्रिया का जो अभिन्न रूप है, वही विशुद्ध चैतन्य शक्ति है, किन्तु जीवरूपी आत्मा इस विशुद्ध शक्ति का स्फुरण, अनादिकाल से न पाने के कारण अल्पज्ञ और अल्पशक्ति के रूप में संसारी बनकर, मायिक-जगत् में अपने-अपने अधिकार के अनुरूप क्षेत्र में विचरण कर रही है। चैतन्य शक्ति लुप्त न होने पर भी लुप्तवत् विद्यमान है। कुण्डलिनी की निद्रावस्था इसी का नामान्तर है। इसी शक्ति को प्रबुद्ध या जाग्रत् करना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है, क्योंकि यह शक्ति जाग्रत् होने पर जीव जीवभाव से मुक्त होकर शिवभाव में अवस्थान करने में समर्थ होता है।

कुण्डलिनी-शक्ति प्रत्येक मनुष्य के देह में मेरुदण्ड के नीचे निर्दिष्ट स्थान-विशेष में, सुप्तावस्था में है। जागतिक किसी कर्म के द्वारा, यहाँ तक कि अलौकिक पुण्य राशि संचय करने पर भी, इस शक्ति को प्रकृष्ट रूप में जगाने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता। योगशास्त्र की प्रारम्भिक सभी घटनाएँ इस शक्ति को जगाने के लिए हैं। इस शक्ति का जागरण साधारणतया क्रमश: होता है, कदाचित् किसी का अक्रम से होता हो। जिसे साधारणतया षट्चक्र की साधना कहा जाता है, वह वास्तव में इस शक्ति को जगाकर उसे ऊर्ध्वमुखी करना ही साधना है। शक्ति की यह ऊर्ध्वमुखी प्रगति चक्र के बाद चक्रभेद करती हुई आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व स्थित बिन्दु में जाकर निवृत्त हो जाती है। भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि की साधना इसी का नामान्तर है। यह साधना सम्यक् ढंग से अनुष्ठित होने पर षट्चक्र भेद करते हुए साधक बिन्दु स्थान पर अधिकार कर सकता है। उस समय मध्याकर्षण नहीं रहता। कर्म-संस्कार के आवरण तिरोहित हो जाते हैं एवं अस्फुट भाव से होने पर भी ऊर्ध्व में आकर्षण-क्रिया अनुभूत होने लगती है।

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि आत्मा उस समय अविद्या संस्कार से मुक्त होकर शुद्ध-विद्या-लाभ करने का अधिकार प्राप्त करता है। यही शुद्ध-विद्या ही चैतन्य-शक्ति का उन्मेष है जो गुरु-कृपा से जीव यथा समय अनुभव करता है। गुरु प्रणाम में जिसे चक्षु उन्मीलन कहा जाता है, वह जीव के सम्यक् ज्ञान- रूपी चक्षु उन्मीलन के रूप में समझना चाहिए। जो इस दिव्य चक्षु का उन्मीलन कर देते हैं, वे ही वास्तविक गुरु हैं। इस चक्षु उन्मीलन करने के लिए उन्हें तत्काल विशुद्ध-शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। इस शक्ति का अवलम्बन करके साधक को अविद्या से छुटकारा पाना होता है एवं अविद्या से मुक्त होकर विद्या या ज्ञान से भी मुक्ति लाभ करना पड़ता है।

अविद्या से मुक्त होने के साथ-साथ उन्मीलित तृतीय नेत्र की उज्ज्वल छटा स्पष्ट रूप से दृष्टि के सामने प्रकाश देती है।

विशुद्ध आत्मज्ञान ही ज्ञानांजन शलाका है—यह श्री श्री सद्‌गुरु जीवात्मा पर अनुग्रह करते समय उसमें संचार करते हैं।

अज्ञान का वास्तविक स्वरूप अपनी आत्मा से भिन्न रूप में जगत् को देखना है, किन्तु वस्तुतः जगत् अपनी आत्मा से भिन्न नहीं है—वह आत्मा का ही तिरोहित प्रकाश-मात्र है। जब सद्‌गुरु के अनुग्रह से शुद्ध ज्ञान का अंकुर हृदय में रोपित होता है तब योगी की दृष्टि में द्वितीय बोध नहीं रहता। प्रत्येक वस्तु तब पहले अपनी सत्ता विसृष्ट अंश-मात्र के रूप में प्रतीत होता है अर्थात् समग्र विश्व तब शिवरूपी आत्मा का शक्तिरूप धारण करते हैं—इसी का नाम है दिव्य चक्षु उन्मीलन एवं उनके द्वारा सत्य वस्तु का निरीक्षण करना।

किन्तु यह महान् परिवर्तन कभी सम्भव नहीं हो सकता—यदि गुरुरूपी आत्मा शक्ति के द्वारा जागृत कर उसे ऊर्ध्वमुख की ओर प्रेषित न करे। भेदज्ञान कट जाने पर प्रत्येक वस्तु के साथ व्यक्तिगत अभेद ज्ञान जागता है, इस कारण समग्र विश्व अपना अभिन्नस्वरूप जैसा लगता है। यही प्रेम की अभिव्यक्ति इसका भी मूल पूर्वोक्त गुरु-कृपा संजात अभेद दृष्टि का उन्मेष है। अतएव मल परिपक्व होने पर गुरु-कृपा के उदय या गुरु-कृपा के आविर्भाव के कारण से मल परिपक्व हो जाय, किसी प्रकार से प्रज्ञादृष्टि का उन्मीलन होते ही ब्रह्मरूप, इस महाज्ञान का उदय होता है जिसके कारण जीवन्मुक्ति स्वभावतः निखर जाती है। यही जीवन की चरम सफलता तथा इसकी प्राप्ति के मूल में श्रीगुरु का अनुग्रह है। इसी से गुरु का माहात्म्य स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

●

परलोक तत्त्व

लेखक

भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

अनुवादक : एस०एन० खण्डेलवाल

परलोक नामक ग्रन्थ-प्रकाशन का कारण! मनुष्य यह जानता है कि एक दिन मरना ही होगा। सर्वदा स्मरण न रहने पर भी एक दिन मृत्यु के हृदयहीन करालकवल में अवशभाव से कवलित होना पड़ेगा। नितान्त अनिच्छा के साथ प्रियतम, धनजन का ममता-पाश छेदन करके अनित्य संसार को छोड़ना होगा, यह कभी-कभी स्मरण हो आता है। मरण अवश्यम्भावी है, इसका तो विश्वास है, किन्तु जब यह याद आता है कि मुझ भी एक दिन मरना होगा, तब न जाने क्यों हृदय विचलित हो उठता है, चित्तगगन निराशा के मेघों से आच्छादित हो जाता है। मरण-विचार आनन्दप्रद नहीं है। हमें मरकर यह लोक छोड़ना ही होगा, ऐसे विचार हमारे मन में स्थायी नहीं रहते। मरण का रूप क्या है? सभी का हृदय मृत्युभय से भीत है। मृत्यु किसी की भी प्रिय नहीं है, यह निश्चित नियम होने पर भी हर कोई मृत्यु से भीत नहीं होता। ऐसे व्यक्ति मृत्यु की भी उपेक्षा कर देते हैं। ऐसे सामर्थ्यशाली महान् लोग भी यहाँ हैं। कैसे मृत्यु की भीमभृकुटि की उपेक्षा करने का सामर्थ्य जन्म लेता है? मृत्यु हमारे लिए इतनी अहृद्य तथा भीषण क्यों है?

ज्ञानी का हृदय मृत्यु-भय से कम्पित नहीं होता। हमारा वास्तविक स्वरूप तो आत्मा है, जो मरणरहित है। मैं वास्तव में अमर हूँ, देशकाल आदि जनित परिवर्तन से मेरा परिवर्तन नहीं होता। मैं अविनाशी अपरिणामी हूँ, यही ज्ञान है। यदि हम अमर हैं, तब मरण-भय क्यों? तब किसके मरण का भय? मनुष्य-मात्र में यह विश्वास कब सहज होगा कि उसे एक दिन मरना ही है?

परलोक नामक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी प्रतिपादन रीति के सम्बन्ध में कुछ बातें। यह ग्रन्थ चार खण्डों में परिपूर्ण हुआ है। प्रस्तावना, आस्तिक तथा नास्तिक, परलोक क्या है? जीव-जन्म से सम्बन्धित शास्त्रोपदेश, इसी सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का मत, यह है प्रथम खण्ड का विषय। द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में जीव के जन्म-सम्बन्ध में मेरे मन्तव्य की अनुवृत्ति तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धित विवेचना है। चतुर्थ खण्ड में पुनर्जन्म-सम्बन्धित मेरी अनुवृत्ति (मन्तव्य की अनुवृत्ति), कर्मतत्व का संक्षिप्त विवरण, लोकान्तर, मरणोत्तर जीव की गति तथा ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा लिंग देह का विवरण है।

परलोक के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करने के लिए, लोकान्तर, कर्मतत्व, मरणोत्तर जीवगति, ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा लिंगदेह, इन सब तत्वों की तत्व-व्याख्या आवश्यक है।

पृष्ठ : 428 मूल्य : सजिल्द : 400.00 ISBN : 978-81-7124-783-7
अजिल्द : 300.00 ISBN : 978-81-7124-784-4

अध्यात्म, योग, तंत्र, धर्म, दर्शन, संस्कृति विषयक प्रमुख ग्रन्थ

जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड) / **वेद व विज्ञान** *स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती*
वेदान्त और आइन्सटीन *अनिल भटनागर*
सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा *भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द*
परलोक तत्त्व / मानव-तत्त्व तथा वर्ण विवेक *भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द*
बुद्ध और उनकी शिक्षा (प्रश्नोत्तरी) *हेनरी यस० ऑल्कॉट, अनु० डॉ० पी.एन.सोमानी*
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ *भरत झुनझुनवाला*
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष *डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल*
साधना और सिद्धि (योग से आरोग्य) *डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म सार) *प्रो० कल्याणमल लोढ़ा*
हिन्दी ज्ञानेश्वरी *अनु० : ना०वि० सप्रे*
श्रीमद् एकनाथी भागवत *अनु० : ना०वि० सप्रे*
तुकाराम गाथा(संतश्रेष्ठ तुकाराम के चुने हुए अभंगों का भावानुवाद) *अनु०: ना०वि० सप्रे*
मनीषी की लोकयात्रा (पं०गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन) *डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह*
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव :
जीवन और दर्शन *नन्दलाल गुप्त*
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस *अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न*
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा *पं० गोपीनाथ कविराज*
स्वर से समाधि / यंत्र-मंत्र रहस्य *स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'*
गुप्त भारत की खोज *पाल ब्रंटन*
रावण की सत्यकथा *रामनगीना सिंह*

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

अनन्त की ओर * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2, 3 व 4)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान
भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * दीक्षा

अनुराग प्रकाशन
विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : **(0542) 2421472**
Shop at : **www.vvpbooks.com**

₹100.00
ISBN:978-81-89498-52-8
9 788189 498528